

प्रकाशक—

श्री आत्मानन्द पुस्तक प्रचारक मण्डल.

रंशिनमुहल्ला, आगरा।

समर्पणम् ।



अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः कस्या एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतान्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मन्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षमयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दत्त उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शोतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविचर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्भे प्रियो नरः ॥

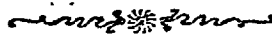
(भगवद्गीता अ० १२ श्लो० १३-१९)

परमात्मा के ऐसे परमप्रिय आदर्शभक्त नरपुङ्गवों
के करकमलों में यह ग्रन्थ सादर सप्रेम एवं सवि-
नय समर्पित है ।

विनीत—

कन्नोमल ।

❀ विषय-सूची ❀



समर्पणम्	पृष्ठ
	i
Foreword (I) by H. H. the Maharaja Sahib Bahadur of Kashmir.	ii
वाङ्मुख (१) श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, काश्मीर, लिखित.	iii
Foreword (II) by H. H. the Maharaja Sahib Bahadur of Chhatarpur.	iv
वाङ्मुख (२) श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, छत्रपुर, लिखित.	v
Foreword (III) by the Hon'ble Raja Kushalpal Singh Sahib M.A. LL. B. Ph. D. M. R. A. S. &c. &c. of Kotla.	vi—vii
वचनारम्भ—परिडित दीनदयालु शर्मा, व्याख्यानवान्-स्पति, लिखित.	viii
वक्तव्य—परिडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, सम्पादक-भग-स्वती, लिखित.	१—५
भूमिका—	१—४
◆	
प्राश्चात्य शास्त्रीयविचार और गीतां	१
भौतिक विज्ञान (Science)	१
अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics)	२
मनोविज्ञानशास्त्र (Psychology)	१२

आचारशास्त्र (Ethics)	१३
सामाजिक शास्त्र (Social Polity)	१६
धर्मशास्त्र (Theology)	१६
श्रीकृष्णचन्द्र जी के जीवन पर एक दृष्टि	१६
श्रीकृष्ण चरित्र का गूढ़ाशय	२७
भगवद्गीता कव वनी	४२
भगवद्गीता के सिवा और और २ गीताएं	५०
श्रीकृष्णका पवित्र संदेश	५२
श्रीकृष्ण की गीता	५८
दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्त	६६
वेदान्तदर्शन	८४
उपनिषत्	१०२
सांख्यदर्शन	१०३
योगदर्शन	१०८
न्यायदर्शन	११३
वैशेषिक दर्शन	१२०
पूर्वमीमांसा	१२६
भागवतधर्म अथवा भक्तिमार्ग	१२७
नारदभक्तिसूत्र	१२८
आचारधर्म	१३२

श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्तों का सप्रमाण

शृङ्खलाबद्ध वर्णन :—			१३५
सृष्टि	१३७
जीव (आत्मा)	१४०
परमात्मा	१४२
आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध	१४५

परमपद	१७६
परमपद प्राप्ति का मार्ग	१७७
कर्म	१७८
पाप कैसे होता है	१७९
कर्मयोग	१८२
ईश्वर पूजन के मिला २ मार्ग	१८८
ध्यानयोग	१६२
ज्ञानयोग	१६५
संन्यासयोग	१६६
भक्तियोग	१७२
आचार	१७७
मोक्ष और परमपद किन को प्राप्त होता है	१८५
विश्वरूपदर्शन	१९०
गीतोपदेश की परंपरा	१९६
इस की महिमा	१९६
परिशिष्ट	१९९
ईश्वरगीता	२०१
गणेशगीता	२०५
शुकाष्टक	
भगवद्गीतामूलपाठ	(१-६४)
शुद्धचतुष्टयपत्र	(१-५)



FOREWORD (1)

BY

His Highness the Maharaja Saheb Bahadur
of
Kashmir.

In my opinion, the book—Gita Darshan—contains useful information culled from ancient Sanskrit Literature and interpreted in the light of modern research and view of either European scholars or Indians trained on European lines. The labours of the author in this direction are worthy of praise. The author has explained broad principles of the six systems of Hindu Philosophy and has given a list of the main subjects discussed in Gita. His treatment of the main subjects discussed, is, to a great extent, on impartial lines. Persons who are not acquainted with the subject-matter of Gita or the teachings of Upanishads and Puranas, will get an idea of them in their broad outlines by going through this book.

I have no hesitation in wishing the book God-speed on its way to the world, and trust it will be welcomed and well appreciated by the public.

THE PALACE
SRINAGAR
12th August 1918.

PRATAP SINGH,
H. H. MAHARAJA SAHEB BAHADUR
OF KASHMIR.

अंगरेजी से अनुवाद—

(१)

श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, काश्मीर,

लिखित

वाङ्मय

मेरी संमति में, इस पुस्तक—गीतादर्शन—में प्राचीन संस्कृत साहित्य से उपयोगी विषय सञ्चित कर के रखे गये हैं और उन का विवेचन भी साम्प्रतिक गवेषणा सङ्गत तथा योरोपियन विद्वानों या योरोपियन प्रणाली पर सुशिक्षित भारतवासी विद्वानों के मत के अनुसार है ।

इस सम्बन्ध में लेखक का परिश्रम प्रशंसनीय है। लेखक ने द्धःश्रीं हिन्दू दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों को संक्षेपरूप से लिखा है; और गीता में जो जो मुख्य विषय हैं उन का भी क्रमनियमानुसार वर्णन किया है। गीतान्तर्गत मुख्य विषयों का विवेचन निष्पक्षतया किया गया है। जो मनुष्य गीता तथा उपनिषदों और पुराणों के उपदेशों से अनभिन्न हैं, वे इस पुस्तक के पढ़ने से उनके सिद्धान्तों से सुपरिचित हो जायेंगे ।

मेरी यह शुभकामना है कि यह पुस्तक संसार में प्रवेश कर सफलता प्राप्त करे। मुझे विश्वास है कि पाठकगण उसका स्वागत कर उस के गुणग्राही होंगे ।

राजमहल
श्रीनगर
२ अगस्त १९१८

प्रतापसिंह,
श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर,
काश्मीर ।

FOREWORD (II.)

BY

His Highness the Maharaja Sahib Bahadur of Chhatarpur.

There are few books in the literature of the world which have attracted so many commentators and the translators as the 'Bhagvat Gita—the Lord's Immortal song.'

The present commentary, too, is not without justification. Its special feature is that its learned author has put together under separate heads, the gems of thought that are scattered all over the text, so that the reader may easily find all the information he wants on a particular subject. The book gives a valuable summary of the six Darshans, a thorough knowledge of which is essential for the right understanding of the text. The author has also added a short life of *Lord Krishna*, the Divine author of the work. He, while explaining the miracles of the Lord, holds a view, not much different from the opinion of some modern christian thinkers—that miracles are a special working of the laws of nature to suit the needs of the occasion. This is quite in keeping with the spirit of the present age.

The book will be of special benefit to those who turn away from other commentaries calling them too difficult for them, but even those who call themselves learned in the Shastras will find the book much useful, specially as a note-book for refreshing their memory.

Lala Kanno Mal has taken a good deal of trouble to make the book really a useful one, and I hope his labours will well be rewarded by the appreciation that the book will meet from the Hindi reading public.

CHHATARPUR,

The 5th August 1918.

VISHWA NATH SINGH,
 HIS HIGHNESS THE MAHARAJA
 SAHIB BAHADUR
 OF
 Chhatarpur.

अंगरेजों से अनुवाद—

(२)

श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, ङ्गपुर,
लिखित
वाङ्मख

भूमण्डल के साहित्य में बहुत कम ऐसी पुस्तकें हैं जिनके भाष्य और अनुवाद इतने हों जितने श्री मङ्गलवद्रीता के हैं ।

प्रस्तुत टीका भी आवश्यकतानुसार है । इसकी यह विशेषता है कि चुपडित लेखक ने उन सब विचार-रत्नों को जो गीतापाठ में फले हुए हैं, पृथक् २ शीर्षकों में विभक्त कर गृह्यलावद्ध कर दिखाया है । इस से यह सुभीता हो गया है कि पढ़ने वाले को जिस विषय का परिचय करना हो उसे वह एक स्थान में ही संग्रहित पावेगा । इन पुस्तक में ङ्गों दर्जन शास्त्रों का दिग्दर्शन भली भांति कराया है । गीता समझने के लिये इन शास्त्रों का पूर्ण परिचय होना परमावश्यक है; लेखक ने गीता के ब्रह्मा भगवान् श्री कृष्ण का जीवन चरित्र भी संक्षेपरूप से दे दिया है । भगवान् श्रीकृष्ण के अद्भुत और चमत्कारी कार्यों के विवेचन में लेखक का वही मत मालूम होता है जो कुछ आधुनिक क्रिश्चियन विचारकर्त्ताओं का है—अर्थात् यह कि अबसर की आवश्यकताओं के अनुसार प्राकृतिक नियमों का विज्ञापन से उपयोग करना ही अद्भुत कार्यों का रहस्य है । यह बात वर्त्तमान युग के भावों के अनुसार है ।

यह पुस्तक विशेष कर उन के लाभ की अधिक है जो गीता के भाष्यों को कठिन समझ कर उन्हें झोंड देते हैं; परन्तु जो अपने लिये शास्त्रों के अच्छे विद्वान् समझते हैं उन की स्मृति जागृत करने के लिये भी यह पुस्तक नोट बुक के रूप में परमोपयोगी है ।

लाला कन्नोमल ने इस पुस्तक की वास्तव में परमोपयोगी बनाने में कोई परिश्रम उठा नहीं रक्खा है । मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी संसार में इस पुस्तक का जो आदर होगा वही लेखक के परिश्रमों के लिये एक अच्छा पारितोषिक होगा ।

विश्वनाथ सिंह

ङ्गपुर
५ अगस्त १९१८

श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर
ङ्गपुर ।

FOREWORD (III).

BY

The Hon'ble Raja Kushalpal Singh Saheb M. A.
 L.L.B. P.H. D. M.R.A.S. etc etc of Kotla.

The Bhagvad Gita—Lord Krishna's Divine Song—is one of those wonderful, priceless and immortal books, which millions of human souls have from time immemorial been regarding as the most sacred of sacred books to be daily read, recited, marked, studied and inwardly digested with the deepest feelings of faith and reverence. It is an exquisite casket of the most scintillating gems of the sublime and lofty teachings of Hinduism—a Kaleidoscopic view of its leading philosophical ideas, scientific theories, religious doctrines, ethical tenets and devotional practices leading to the ultimate goal of emancipation.

Its divine teaching has verily contributed to the spiritual and moral upliftment of humanity. It has consoled many a wounded heart—it has rekindled hope and joy where gloom of despair prevailed—it has solved many a metaphysical, ethical, sociological and economic problem that distracted the human mind—it has in brief opened the portals of undying bliss, immortal felicity and eternal peace to many a soul ruthlessly crushed down under the ever-revolving wheel of Karma.

Occidental sages and savants have lavished an abundance of their rapturous praise on the lofty teaching of this great book. It is a book which may well claim to have been translated in almost all the languages of the civilized world.

Multitudes of learned commentaries and ingenious glosses have been written on it ; yet there is room for more works such as aim at explaining, elucidating and illuminating its teachings for the general public.

Lala Kanno Mal, M. A. has struck out a new path—an untrodden ground—in writing his work on the subject. The contents of the book will show what a vast and

varied field of matter has been traversed in order to make the book as full and complete as it could be. The portions pertaining to a comprehensive survey of the main conclusions of Western science and philosophy in the light of the teaching of the Bhagvad Gita—an account of the life and deeds of Lord Krishna—the Divine Author of the Gita—a review of the principal conclusions of the six systems of Indian philosophy followed by six separate articles on these systems as well as on the doctrine of Bhakti (devotion), constitute not only an interesting and instructive reading in itself but go a long way in explaining, illuminating and expounding the teaching of the Gita and bringing it within the reach of ordinary intelligence and understanding.

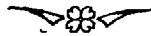
The outstanding and novel feature of the book is that the contents of the teachings of the Bhagvad Gita have been classified and arranged under distinct heads, and that each classified subject has been presented in the form of a comprehensive, well-connected and self-contained article with textual references in the margin, so that the reader may know at once all what the Gita teaches on the subject.

The new method of explaining the Gita is indeed commendable. The author seems to have spared no pains in making his book as interesting and instructive as he could. It bespeaks his intimate knowledge of Eastern and Western philosophy—his deep study of Hindu religion—his remarkable ability in explaining things—his facility in expressing abstruse ideas in easy and intelligible language—his marked skill in shifting, arranging and marshalling material. In brief, the book is an ample testimony to his scholarship and spirit of research, and is a credit to him.

I have no hesitation in wishing the book every success in the world, and trust it will be well appreciated by the public.

Kotla Fort Dist Agra U. P. <i>The 12th Sept. 1918.</i>	}	THE HONBLE RAJA KUSHAL PAL SINGH M.A., L.L.B., PH.D., M.R. A.S. etc etc of Ko'la.
--	---	---

वचनारम्भ ।



मेरे मित्र लाला कन्नोमल जी एम. ए. ने “गीता दर्शन” नामक पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य में एक उपयोगी ग्रन्थ की वृद्धि की है।

भारतवर्ष में, उपनिषदों के सार श्रीमद्भगवद्गीता का पठन पाठन चिरकाल से चला आता है। गीता सद्गुरु विश्वमान्य भगवत् सन्देश की अनेक सुपाठ्य व्याख्याएँ देव वाणी संस्कृत और राष्ट्रभाषा हिन्दी में पहले से ही वर्तमान हैं। तथापि पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा दीक्षा से अभिन्न होकर प्राचीन वैदिकधर्म में निर्भ्रम आस्था रखनेवाले एक सुयोग्य विद्वान् का आर्य दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रतिभाशाली विवेचन देखकर चित्त परम सुखी हुआ।

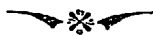
स्कूल कालेजों के विद्यार्थियों में हिन्दूदर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के अभिज्ञान और उनके प्रति श्रद्धा भक्ति के भाव जागृत करने के पवित्र उद्देश्य से इस पुस्तक की रचना की गई है।

में इस पुस्तक की सफलता का अभिलाषी हूँ।

दीनदयालु शर्मा, परिडित.

व्याख्यान वाचस्पति ।

वक्तव्य ।



सृष्टि और लय, आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाला समग्र ज्ञान प्राप्त कर लेना ज्ञानार्जन की पराकाष्ठा है। अकेला सृष्टि शब्द इतना व्यापक है कि जड़-चेतन, जो कुछ हमारी ज्ञानेन्द्रियों का विषय है, सभी का समावेश उस में हो जाता है। तिनके से लेकर पर्वत तक, पिपीलिका से लेकर विशालकाय हाथी तक, तारका से लेकर सूर्यमण्डल तक-सभी सृष्टि के अन्तर्गत है। लुद्र से लुद्र वस्तु का भी सर्वाङ्गी ज्ञान प्राप्त करना जब मनुष्य के लिये असम्भव सा है तब इस सारे विश्व का यथार्थ ज्ञान कोई कैसे प्राप्त कर सकता है। पर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता है। क्योंकि ईश्वर ज्ञानमय है और मनुष्य ईश्वरही का अंश है। मनुष्य ही क्यों, जहाँ जहाँ ज्ञान का अंश—चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो—पाया जाता है वहाँ वहाँ सर्वत्र, ईश्वरांश का अस्तित्व समझना चाहिए। अतएव अपने ज्ञानोद्भव के कारण अथवा आकर, ज्ञानरूपी जगदीश्वर की पहचान के लिए—उस में अपनी आत्मा के लय के लिए—चेष्टा करना मनुष्य का सब से बड़ा कर्तव्य है।

सृष्टि-स्थिति आदि के नियम समझने और उन के द्वारा स्रष्टा के अस्तित्व की भावना हृत्पटल पर अङ्कित करने के लिए ज्ञान-प्राप्ति के सिवा और कोई साधन नहीं। प्रकृति के नियमों में ज्ञानवानों को सदा एकसी सत्यता का अनुभव होता है। ज्ञान और सत्य प्रायः पर्याय-वाची शब्द हैं। क्योंकि प्राकृतिक नियमों में सत्य का अनुभव होना ही ज्ञान का अनुभव कहा जाता है। बात यह है कि सत्य की उपलब्धि ही

ज्ञान की प्राप्ति है। किसी भी नियम से सम्बन्ध रखने वाले सत्य का अनुभव हो जाना ही, उस उतने ज्ञान का अनुभव करना है। यदि किसी को समस्त प्राकृतिक नियमों की सत्यता का ज्ञान हो जाय तो समझना चाहिए कि उसके लिए कुछ भी जानना बाकी नहीं रहा। अतएव असत्य के आवरण को हटाकर—माया के बन्धन को तोड़ कर—वह मुक्त हो गया, वह ज्ञानमय ईश्वर की सदृशता को पहुँच गया; वह स्वयं ही ईश्वर हो गया।

भारतवर्ष के ज्ञानी ऋषि-मुनि ऐसे ही सत्य की खोज में सदा निरत रहते थे। उन्होंने ज्ञान का बहुत कुछ अंश स्वायत्त कर लिया था। जिस के हृदय में सत्य ज्ञान के अंश का जितना ही अधिक उद्भव हुआ था वह उतना ही अधिक ईश्वर के पास पहुँचसा गया था। उन ज्ञानियों के ग्रन्थों से उन के ज्ञानांश के अनुरूप ही सत्य की उपलब्धि होती है।

इन सब ज्ञानान्वेपियों की ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग बहुत कर के जुदा जुदा थे। इस का कारण रुचि, स्वभाव और संस्कार की विचित्रता के सिवा और कुछ नहीं। जिसे जो मार्ग अच्छा लगा उसने उसी मार्ग से अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये उद्योग किया। एक से अधिक शास्त्रों के निर्माण का यही कारण है। पर शास्त्र चाहे जितने हों, उद्देश सबका एकही था। वह था, सत्य की उपलब्धि—सच्चे ज्ञान की प्राप्ति। क्यों कि जन्म की सार्थकता और परम पुरुषार्थ की सिद्धि इसी पर अवलम्बित समझी जाती थी और अब भी समझी जानी चाहिए।

हमारे षड्दर्शनों और उपनिषदों का साध्य यही था। उन सभी में सत्य की खोज, सत्य की पहचान और सत्य की प्राप्ति के साधनों का, भिन्न भिन्न प्रणालियों से, वर्णन है। प्राणि-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, मानस-शास्त्र आदि जितने आधुनिक शास्त्र हैं उन सबका प्रधान

साध्य यद्यपि यह नहीं पर वे भी सत्य की खोज और उपलब्धि के साधन आदि का ही वर्णन करते हैं। और सत्य सदा अव्यभिचारी है। देश, काल और पात्र-भेद के कारण उस में भेद नहीं हो सकता। यही कारण है जो योरप और अमेरिका, चीन और जपान के चिन्ता-शील विद्वान् भी सत्य की खोज करते करते उन्ही सिद्धान्तों पर पहुंचे हैं जिन पर भारत के दार्शनिक विद्वान् और अन्य विषयों के पहुंचे हुए पण्डित पहुंचे थे। सत्य यदि अव्यभिचारी न होता—ज्ञान का यदि एक ही रूप न होता—तो यह बात कदापि न होती। भारतीय विद्वानों का सिद्धान्त है कि आकाश अनन्त है। यह निर्वाच्य सत्य है। इसी से भिन्न भिन्न देशों के सत्यशोधक विद्वान् भी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं।

पदार्थों के दृश्य आकर भिन्न २ होने पर भी उनकी उत्पत्ति, स्थिति और संहति के नियम एकही प्रकार के सत्य-सूत्र से अनुस्पृत हैं। इसी से विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु जो वनस्पति शास्त्र-सम्बन्धिनी खोज करने लगे तो कभी प्राणिशास्त्र की सीमा के भीतर पहुंच गये, कभी शरीर शास्त्र की सीमा के भीतर और कभी मानस शास्त्र की सीमा के भीतर। तभी उन्होंने ने जाना और परीक्षा द्वारा संसार को बता दिया कि सब की जड़ में एकही सत्य विद्यमान है; सब का नियमन और संहरण एकही प्रकार के नियमों से होता है; चाहे जहां आप खोज कीजिए, सत्य ज्ञान सब कहीं एक ही सा पाया जायगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में जिस ज्ञान का निरूपण है वह चाहे श्रीकृष्ण का किया हुआ हो, चाहे व्यास का, चाहे और किसी का; उसका निरूपण कर्ता यदि पूर्ण ज्ञानी नहीं, तो बहुत बड़ा ज्ञानी अवश्य था। सत्य ज्ञान के आलोक से उस का हृत्सरोज अच्छी तरह विकसित हो गया था। ज्ञान प्राप्ति के भिन्न भिन्न मार्ग उसे अच्छी तरह अवगत थे। क्योंकि उसने गीता में अपने समय में ज्ञात, उन सभी मार्गों का निर्देश किया है और बताया है कि मार्ग भिन्न होने पर भी साध्य सब का एक है। मार्ग-भेद

केवल अधिकारि-भेद का सूचक है। अर्जुन को गीताकार ने निष्काम-कर्म का अधिकारी समझा। इसी लिए उसने अर्जुन को उसी मार्ग से अपनी इष्ट-सिद्धि करने पर ज़ोर दिया। पर साथ ही उसने अन्य मार्गों का भी निरूपण कर दिया। यह इस लिए कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति—जिसे दूसरे शब्दों में मुक्ति या मोक्ष भी कह सकते हैं—और मार्गों से भी हो सकती है। पर उपस्थित अवसर और पात्र-विशेषत्व के विचार से अर्जुन के लिये उसने अन्य मार्गों के अवलम्बन की जरूरत नहीं समझी। उसके लिए कर्म योग नामक मार्ग से ही अपना साध्य सिद्ध करना उसने प्रशस्त समझा।

येही बातें लाला कन्नोमल ने, प्रकारागार से, इस पुस्तक में बताई हैं। उपनिषद्, न्याय, मीमांसा, वेदान्त और योग-शास्त्रों की आलोचना और गीता-निरूपित सिद्धान्तों से उन शास्त्रों के सिद्धान्तों की तुलना करके उन्होंने यह दिखला दिया है कि साध्य सब का एक ही है; न्यून-अधिक मात्रा में सत्यज्ञान की उपलब्धि सब से एकसीही होती है। यदि ऐसा न होता तो उन उन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्त गीता के सिद्धान्तों से इतना न मिलते। उन्होंने तो पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा निर्मित शास्त्रों के सिद्धान्तों से भी यह बात, बहुत दूर तक, सिद्ध कर दी है। भिन्न देशों में, भिन्न समयों में, भिन्न दृष्टियों से भी ये शास्त्रकार अनेकांश में उन्हीं परिणामों पर पहुँचे हैं जो परिणाम गीता तथा अन्य भारतीय शास्त्रों की सम्पदा हैं। यदि सत्य सब कहीं और सदा अथाध न होता तो यह बात कदापि सम्भव न थी।

पङ्कदर्शनों, उपनिषदों और पाश्चात्य शास्त्रों के सिद्धान्तों में गीता के सिद्धान्तों से जो कहीं कहीं भेद पाया जाता है उसका कारण है। ज्ञान की मात्रा सब में एकसी नहीं होती। ज्ञानांश की इयत्ता के अनुसार ही सत्य की खोज में मनुष्य कृतकार्य हो सकता है। इस दशा में यत्र तत्र भेद-भाव हो जाना बहुत ही सम्भव है। किस के सिद्धान्तों में कितने

और कहां कहां भ्रम या प्रमाद है, यह बताना विज्ञानाचार्यों का ही काम है। बहुत सम्भव है कि वे शास्त्र मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि, अवस्था, शिक्षा और संस्कार के विचार से रचे गये हों। अतएव जो भेद और विरोधाभास हमें देख पड़ते हैं वे वास्तव में अधिकारि-भेद के सूचक हों।

लाला कन्नोमल ने श्रीकृष्ण और गीता के सम्बन्ध में जो अन्य बातें लिखी हैं वे यद्यपि गौण हैं, तथापि उनसे गीता का 'तात्पर्य्य समझने में बहुत सहायता मिलती है। उनसे गीता का महत्त्व भी बढ़ गया है। भिन्न भिन्न शास्त्रों के ज्ञान का बहुत कुछ समन्वय जो उन्होंने गीता में दिखाया है, वही इस पुस्तक की विशेषता है—वही इसका प्रधान गुण है। आशा है, इस गुण-ज्ञान से गीता की महत्ता का और भी अधिक अनुभव पाठकों को हो जायगा।

श्रीकृष्ण का कथन है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

जन समुदाय से हमारी प्रार्थना है—

अन्यज्ञानं परित्यज्य गीताज्ञानं त्वमाप्नुहि ॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी

सम्पादक—सरस्वती ।

भूमिका



संस्कृत साहित्य में भगवद्गीता एक अत्यन्त उज्ज्वल और अमूल्य रत्न है। यह इतनी सुप्रसिद्ध और माननीय पुस्तक है कि सभी हिन्दू इसका आदर करते हैं। लाखों हिन्दू इस का प्रतिदिन पाठ करते हैं। सहस्रों को यह कण्ठाग्र है। अनेक धुरन्धर विद्वान और तत्ववेत्ता महात्माओं ने इस पर टीकाएं लिखी हैं। इस के अनुवाद अनेक भाषाओं में मिलते हैं। इस के सम्बन्ध में अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ रचे गये हैं। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने कण्ठरव से इसकी प्रशंसा की है, और इस के गौरवशाली सिद्धान्तों पर गम्भीर विचार किये हैं। हाल में मान्यवर बालगंगाधर तिलक ने इस पर एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ विचार प्रचुरता और गंभीर गवेषणा से भरा हुआ है। भगवद्गीता का भारत-वर्ष में इतना प्रचार है कि यद्यपि गीताएं अनेक हैं:—जैसे शिवगीता, गणेशगीता, देवीगीता, ईश्वरगीता आदि-तथापि गीताका नाम लेते ही लोग भगवद्गीता ही समझते हैं। इस गीता की प्रसिद्धि और महिमा के ये कारण मालूम होते हैं:—

१—भगवद्गीता सब गीताओं से प्राचीन है।

२—दूसरी गीताएं कुछ न कुछ इसी के आधार पर लिखी गई हैं। बहुतों में तो इस के अनेक श्लोक अक्षरशः रख दिये गये हैं।

३—प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों में जितने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, वे प्रायः सभी इस में कहीं न कहीं मिलते हैं।

४—वेदों की उपासना, ब्राह्मणों का यज्ञयागादिकर्मकाण्ड, उपनिषदों का अष्टतत्त्वज्ञानमार्ग, दर्शनशास्त्रों के वैज्ञानिक सिद्धान्त,

पुराणों की सगुण उपासना और भक्तिमार्ग, स्मृतियों के मूलाधारतत्त्व, वर्णाश्रमधर्म, और नैतिक विचार—ये सभी भगवद्गीता में पाए जाते हैं ।

५—गीता के सिद्धान्त कितने ही पाश्चात्यशास्त्रीय विचारों से भी अधिक गौरव रखते हैं ।

६—ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग, सन्यासमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग—गीतामें सभी मार्गों का विवेचन है ।

७—इस गीता में किसी मतमतान्तर का झगडा नहीं । सभी मार्गों को सुसुद्ध की योग्यता के अनुसार भगवान् कृष्णचन्द्रजीने मुक्ति का साधन माना है ।

८—साहित्यदृष्टि से इस की संस्कृत सरस और सरल है, और इसमें गम्भीरविचार बड़ी स्पष्टता से लिखे गये हैं । इस अद्भुत और अद्वितीय पुस्तक का पूर्वापर सम्बन्ध, महत्त्व एवं इस के सिद्धान्त सम्यक् प्रकार समझने के लिए, इन इन बातों के जानने की आवश्यकता है—

१—भगवद्गीता के वक्ता श्रीकृष्णचन्द्र जी का पवित्र जीवन चरित्र ।

२—भगवद्गीता के बनने का समय और अन्य गीताओं का कुछ हाल ।

३—दर्शनशास्त्रों के मोटे मोटे सिद्धान्तों का दिग्दर्शन अर्थात् वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसादि शास्त्रों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन, और कुछ उपनिषदों का भी हाल ।

४—गीता के सिद्धान्तों से पाश्चात्यशास्त्रों के विचारों की तुलना ।

५—आचारधर्म के तत्व ।

६—भागवतधर्म अथवा भक्तिमार्ग के मोटे मोटे सिद्धान्तों का निरूपण अर्थात् नारदभक्ति सूत्रों का सारांश ।

७—गीता के १८ अध्यायों में जिन जिन विषयों का प्रतिपादन है, इन का पृथक् पृथक् शृंखलाबद्ध उल्लेख-फिर उन से गीता के सिद्धान्तों का मिलान, जिस से सब अध्यायों के पढ़े बिना एक ही स्थान में किसी विषय का पूरा पूरा हाल मालूम हो जाय। उदाहरणतः आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध, और संसारोत्पत्तिआदि विषयों पर गीता के विचार।

इन सब बातों को लक्ष्य कर यह पुस्तक लिखी गई है, और यही इस के लिखने की आवश्यकता है; क्योंकि भगवद्गीता सम्बन्धी कोई ऐसी पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई जिस में इन सब बातों का उल्लेख हो।

गीतापर अनेक टीकाएं और भाष्य हैं। उन से गीता के कठिन और गूढ़ श्लोकों का अर्थ अच्छी तरह ज्ञात होसकता है अथवा उस के गम्भीर विचार स्पष्ट होसकते हैं; परन्तु किसी एक विषय का परिचय जिस का वर्णन गीता के अठारहों अध्यायों में हो, शृंखलाबद्ध निबन्ध रूप में नहीं होसकता है।

इस पुस्तक की सूची देखने से ज्ञात होगा कि भगवद्गीता से पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए जिन जिन बातों के जानने की आवश्यकता है, वे सभी इस पुस्तक में आगई हैं।

शीर्षक नम्बर १८ में गीताप्रतिपादित जितने विषय हैं, उन्हें १८ अध्यायों में से संग्रह करके, उन पर गीता के श्लोकों के आधार पर एक एक निबन्ध लिखा गया है। और साथ ही हाशिये पर गीता के अध्याय और श्लोकों का हवाला भी देदिया है जिससे निबन्धका मिलान श्लोकों से जल्दी होसके, और कोई यह भी न समझे कि यह निबन्ध लेखक ने अपने मन से ही लिख दिया है। प्रत्येक निबन्ध के अन्त में लेखक की तरफ से टिप्पणी है। उसी में उसने अपनी सम्मति प्रकट की है।

आशा है कि जिस अभिप्राय से यह पुस्तक लिखी गई है, उसे परमात्मा पूर्ण करेगा। गीता के पाठकों से सविनय प्रार्थना है कि इस पुस्तक में जो जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें क्षाम्य दृष्टि से देखें, और, यदि होसके तो मुझे भी सूचित कर दें, जिस से यदि इस का दूसरा संस्करण निकला तो उस में वे दूर कर दी जाय।

कन्नोमल ।



गीतादर्शन

पाश्चात्य शास्त्रीयविचार और गीता

भौतिकविज्ञान

(SCIENCE.)

इस शास्त्र में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी उन्नति की है। जहाँ तक इस शास्त्र का सम्बन्ध संसारोत्पत्ति विषय से है, इन्होंने अनेक अभ्रान्त प्रमाणां से सिद्ध किया है कि संसारोत्पत्ति में परिणामवाद ही मुख्य है। पहले यह माना जाता था कि संसार परमाणुओं से बना है; परन्तु डार्विन-हक्सले-स्पेन्सरदि विद्वानों ने अच्छी तरह साबित कर दिखाया कि परमाणुवाद मानने में बड़े बड़े दोष आते हैं। गुणविकासवाद ही वैज्ञानिकशास्त्र की चरमसीमा है। यह हमारे ही सांख्य दर्शन का मत है जिसे वेदान्त ने भी माना है, और इसी मत के अनुसार गीता में भी संसारोत्पत्ति कही गई है। कणाद का परमाणुवाद नहीं माना है। इस मत से यह तो सिद्ध हो जाता है कि सब सृष्टि अव्यक्त प्रकृति अथवा माया से उत्पन्न हुई है, लेकिन यह समझ में नहीं आता कि जड़ प्रकृति स्वयंकर्त्री और स्वयंभुवी कैसे है। इस का समाधान सांख्य और आधुनिक भौतिक शास्त्र में नहीं है, बल्कि गीता में है, जो कहती है कि प्रकृति स्वयंकर्त्री नहीं है, बल्कि वह अखंड-ब्रह्म के एक अंश के मेल से अपनी रचना करती है। इसलिये गीता में कहा है कि संसारोत्पत्ति ब्रह्म की योगमाया से होती है जिसे प्रकृति कहते हैं, और इस के दो रूप-परा और अपरा हैं। परा, सब भूतों की योनि है जिस में चैतन्यब्रह्म का अंश जीव के रूप में आता है, और अपरा,

संसार के सब पदार्थों को-बुद्धि से लगा पंच भूतों तक-को बनाती है। जिस तरह पाश्चात्य विकासवादी प्रकृति को अन्त में शक्ति ही मानते हैं, परमाणुओं का पुञ्ज नहीं-इसी तरह गीता भी इस प्रकृति को शक्ति का ही रूप मानती है, परन्तु इतना विशेष कहती है कि यह शक्ति तीन रूपवाली है अर्थात् इस में सत्व, रजः और तमःतीन गुण हैं। सत्वगुण, शक्ति, निवृत्ति और शान्ति का द्योतक है। रजोगुण, प्रवृत्ति और काम उत्पादक है, और तमोगुण, मोह और अन्धकार बढ़ाने वाला है। इन्हीं तीन शक्ति गुणों के मेल से संसार के सब पदार्थ बने हैं। जिस में सत्वगुण विशेष है और रजः और तमः कम-वह श्रेष्ठ है। जिस में रजोगुण प्रधान है, वह संसार प्रवर्त्तक है, और जिस में तमोगुण प्रधान है, वह मलिन और निकृष्ट है। गीता में पाश्चात्यमौलिकशास्त्रीयविकासवाद ही नहीं है, बल्कि जो त्रुटियाँ इस मत में रह गई हैं उनका समाधान भी है। अर्थात् गीता, जड़ शक्ति को स्वयं सृष्टि करी नहीं मानती हुई, उस का प्रादि कारण ब्रह्म बताती है और शक्ति को सत्व रजः तमः तीन गुणरूपवाली बताती है।

अध्यात्मशास्त्र ।

(METAPHYSICS.)

इस विषय में जो पाश्चात्यपंडितों ने लिख किया है, वह गीता के सिद्धान्तों से कहीं पीछे है।

पहली बात यह है कि हम जितनी वस्तुएं संसार में देखते हैं, वे सब परिवर्तनशील हैं। नित्य और निरन्तरस्थायी कोई नहीं है।

क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जो नित्य अव्यय और निरन्तरस्थायी हो ? पाश्चात्य पंडित कहते हैं कि प्रत्येक वस्तुका रूपान्तर होता रहता है, और सब परिवर्तनों का मूलाधार प्राकृतिक शक्ति ही है। यदि कोई नित्य वस्तु है, तो वही शक्ति है। जिनका मत यह है कि प्रकृति के परे

ईश्वर है जो इस संसार को रचता और चलाता है, तो उसका खंडन वैज्ञानिक पंडित यह कहकर करते हैं कि इस युक्ति से ईश्वरभी परिवर्तनशील सिद्ध होता है। वह नित्य सत्य नहीं हो सकता है। पाश्चात्य देशों में बहुधा सगुण ईश्वर ही माना जाता है। सगुण ईश्वर का खंडन इस तर्क से हो जाता है। इसी कारण सांख्य दर्शन ने सगुण ईश्वर की असिद्धि मानी है। वेदान्त शास्त्र का मत है कि यह निरन्तर सत्य मूलतत्त्व सगुण ईश्वर नहीं, बल्कि निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म है। वह विकाररहित है, परन्तु प्रकृति में जितने परिवर्तन होते हैं उसी के आधार पर होते हैं। यदि जल आधार नहीं हो, तो नौका नहीं चल सकती है। खूटी आधार नहीं हो, तो कुम्भकार का चक्र नहीं चल सकता है। कपड़ा अथवा दीवार आधार नहीं हों, तो मैजिक लेनदर्न के चित्र घूमते हुए नहीं दिखाई दे सकते हैं। ऐसे ही यदि सत्य नित्य अखंड अव्यय ब्रह्म आधार नहीं हो, तो माया अथवा प्रकृति का चक्र भी नहीं घूम सकता है। एक मनुष्य का कभी नट बन जाना—कभी राजा बन जाना—कभी स्त्री का वेष धारण कर लेना, नामरूपभेद कारण से ही होता है, न कि उस मनुष्य के स्वयं परिवर्तन से। वह तो जैसा का तैसा ही रहता है। केवल नामरूप परिवर्तन से ही वह तरह २ का दिखाई देने लगता है। इसी तरह माया का रूपजाल नित्य अव्यक्त ब्रह्म पर पड़ा है जिस से भिन्नता दिखाई देती है, वास्तव में एकता ही है। पूर्वोक्त उदाहरण में यदि मनुष्य आधार नहीं हो, तो न तरह २ के रूप ही दिखाई दें, और न उन रूपों का परिवर्तन ही हो; क्योंकि इन परिवर्तनों का कोई स्थायी केन्द्र नहीं है। इसी तरह संसार के सब परिवर्तनों का स्थायी और अचलकेन्द्र ब्रह्म ही है। प्रकृति अथवा शक्ति नहीं है; क्योंकि वह स्वयं परिवर्तनशील है। परिवर्तन दो प्रकार के हैं—एक बाह्य और दूसरे आन्तरिक। ऊपर के उदाहरण में मनुष्य का तरह २ के रूप धार २ पलटना, बाह्य परिवर्तन है, और उसी उदाहरण में मनुष्य

का स्वयं बाल, युवा, वृद्ध होना, आन्तरिक परिवर्तन है। जैसे बाह्य परिवर्तन का आधार मनुष्य है वैसेही मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तनों का आधार उसकी आत्मा है, जो अचल स्थिर और अटल है। इसी तरह संसार में बाह्य परिवर्तनों का आधार प्रकृति, माया अथवा शक्ति है, परन्तु इस आन्तरिक परिवर्तनशील वस्तु का आधार नित्य अव्यक्त अव्यय अखंड अचल अटल ब्रह्माही है; क्योंकि जब तक इस परिवर्तनशील और क्षर संसार का परिवर्तनरहित अक्षर तत्त्व नहीं होगा, तब तक इस शास्त्र का सिद्धान्त पूरा नहीं होगा, और न अध्यात्म गवेषणा ही अन्तिम कही जायगी। बहुत से पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता प्राकृतिक शक्ति परही ठहर गये हैं और उसी को अन्तिम आधार मान लिया है, परन्तु इनमें से कुछ ने आगे भी क्रम बढ़ाया है और प्रकृति के परे भी कुछ आधार बताया है; जैसे इस्पिनोज़ा (Spinoza), केन्ट (Kant), फिकटे (Fichte), हेगेल (Hegel), हेरेकटिलीज़ (Heractiles) आदिने बताया है। परन्तु इन्होंने जो अन्तिम आधार बताया है वह न तो ऐसा अचल अटल अखंड नित्य सत्यही है जैसा गीता का अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म है, और न वह ऐसी स्पष्टता से ही बताया गया है जैसा कि गीता में।

पाश्चात्य अध्यात्मशास्त्र में आत्मा का निरूपण ऐसी गवेषणा से नहीं किया है जैसा कि भारतीय शास्त्रों में। इस विषय को अधिकतर मनो विज्ञान शास्त्र पर ही छोड़ दिया है। यह आत्मनिरूपण न्यायवैशेषिक शास्त्रों के जीव तक अथवा सांख्य वेदान्त के सूक्ष्म शरीर तक ही पहुँचा है, आगे नहीं। ऐसे जीव को तो-सांख्य, वेदान्त और गीता प्राकृतिक ही बताते हैं। जिसे आत्मा बताया है वह इस से परे है, और इसी कारण प्राकृतिकलक्षणों से रहित है अर्थात् उस में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसे सब संसार का अक्षर अविनाशी परिवर्तनरहित मूलतत्त्व ब्रह्म है वैसे ही व्यक्ति के शरीर और उस की इन्द्रियों का अचल अटल मूलतत्त्व आत्मा है।

पाश्चात्य पंडितों ने ईश्वर और जीव अथवा ब्रह्म और आत्मा का सम्बन्ध षताने में भी कुछ बहुत प्रयत्न नहीं किया है, और न वे द्वैत अद्वैत विशिष्टा-द्वैतादि के भ्रगड़े में ही पड़े हैं। उन्होंने मनोविज्ञानशास्त्र के अनुसार, इच्छा सुखदुःखादिविशिष्ट जीव को मान कर द्वैतवाद से ही सन्तोष कर लिया है। किसी ने आगे भी क्रम बढ़ाया है; परन्तु जैसी इस विषय की भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने गवेषणा की है वैसी उन्होंने नहीं की है।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में गीता का वही मत है जो उपनिषदों का है अर्थात् दोनों की ऐक्यता; क्योंकि गीता स्पष्ट कहती है कि समस्त संसार के जीव, ब्रह्म के अंश हैं; और जब ब्रह्म अखंड और विकार रहित है तो यह अंश उस से अलग नहीं हुआ—केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही पृथक् कहना पड़ता है; जैसे महदाकाश और घटाकाश पृथक् २ नहीं, केवल व्यावहारिक दृष्टि से पृथक् २ दिखाई देते हैं। यह पृथक्ता उपाधियों के कारण है, न कि वह वास्तविक तत्व में है। गीता स्पष्ट कहती है कि जो मनुष्य भिन्नपदार्थों में अभिन्नताप्रधान तत्व देखता है वही ज्ञानी और पंडित है। यह गीता का बड़ा गौरवशाली सिद्धान्त है।

इसी शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रश्न भी है कि संसार सत्य है या असत्य। दूसरे शब्दों में यह प्रश्न है कि हम संसार को जैसा देखते हैं, वैसा ही है या वास्तव में कुछ और है।

इस विषय में पाश्चात्य पंडितों ने बड़ी गवेषणा की है, और उनके विचार बड़े सारगर्भित हैं; परन्तु इस विषय का निरूपण हमारे शास्त्रकारों ने भी कुछ कम नहीं किया है, बल्कि इस विषय में भी गीता का मत उनके विचारों से बढ़ा हुआ है।

विज्ञानवाद—मायावाद—परिणामवाद—विवर्तवाद—सत्यसंसारवाद—ज्ञानिकवाद—संसारप्रवाहवाद—स्वप्नवाद—मिथ्यावाद आदि अनेक मत हैं।

इन सब मतों को मिलाके प्रधान दो मत हूँते हैं—विज्ञानवाद अथवा अधिवैज्ञानिकवाद और आधिभौतिकवाद ।

आधिभौतिकवादियों का कहना है कि संसार जैसा दिखाई देता है वैसाही है अर्थात् वास्तव में सत्य है और अपनी पृथक् स्थिति रखता है । उसका होना न होना मन कल्पनाओं पर निर्भर नहीं है । न्याय और वैशेषिक दर्शनों का भी ऐसाही मत है । ये, द्रव्य और गुणों में समवायसम्बन्ध मानते हैं अर्थात् वस्तु में द्रव्य और गुणों को संगठित मानते हैं, भिन्न २ नहीं । आधिवैज्ञानिकवादियों का कहना है कि जो कुछ हम देखते हैं वे सब हमारे मनोरञ्चित दृश्य हैं ।

उदाहरण—हमारे सामने एक वृत्त है । उसके साथ हमारी ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क हुआ । ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव मनतक पहुँचा । मन ने बुद्धि के मेल से इन्द्रियों के अनुभव के आधार पर वृत्त का रूप कल्पित कर लिया । इसलिये जो वृक्ष हमें दिखाई देता है वह हमारा मनकल्पित है, न कि वैसे रूप की बाह्य संसार में कोई स्वतंत्र वस्तु है । जो बाह्य संसार में पदार्थों को स्वतंत्र सत्तावाले बताते हैं उनसे विज्ञानवादियों का प्रश्न है कि उन्हें यह ज्ञान कैसे हुआ । मन और बुद्धि तो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा लाई हुई सामग्री पर ही कल्पना कर सकती हैं, और यह सामग्री केवल इन्द्रियसम्बन्धी अनुभव ही है, और कुछ नहीं । यदि मन के सिवा प्रकृति की स्थिति बाह्य संसार में है तो हो, हम उसे मालूम नहीं कर सकते हैं । वह इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है । ऐसी गुप्त वस्तु का क्या करें जिसे न कोई जान सके और न कोई कभी काम में लासके । Berkeley बर्कले, Hume. ह्यूमादि बहुत तत्ववेत्ताओं का थोड़े २ भेद से यही कहना है । हर्बर्ट स्पेन्सर भी कहता है कि जो कुछ हम देखते हैं जीवों के केवल बाह्यरी दृश्य हैं ; उनके असली रूप नहीं ।

वे चीजें वास्तव में क्या हैं, हम नहीं कह सकते। Kant केन्ट का कहना है कि सब वस्तुओं के दो रूप हैं—एक (Phenomena) बाहरी दृश्य और एक (Noumena) आन्तरिकतत्व जिस पर वह दृश्य दिखाई देता है। हमें केवल बाहरी दृश्यों का ज्ञान होता है। आन्तरिकतत्व, ज्ञानेन्द्रियों से परे है। बौद्धविद्वानवादी कहते हैं कि जो कुछ है वह ज्ञान है, बाहरी संसार नहीं है; संसार हमारे ज्ञान का ही रूप है।

सोपनह्वर Schopenhaur ने सिद्ध किया है कि समस्त संसार तीन वस्तुओं से बना है अर्थात् दिक्-काल-कारण। ये तीनों वस्तुएं हमारे मन की उपाधियाँ हैं, न कि कोई स्वतंत्र सत्तावाली बाहरी संसार की वस्तुएं। जब इन तीनों का मनोमय होना सिद्ध हुआ, तो समस्त संसार भी मनोमय ही हुआ।

संसार के मनोमय होने में और बाहरी पदार्थों को केवल दृश्यमात्र निश्चय करने में, बड़े २ तत्त्ववेत्ता सहमत हैं। यूनान देश के पैथेगोरस (Pythagorus) से प्लोटिनस (Plotinus) तक, सभी तत्त्ववेत्ताओं का यह मत है अर्थात् Pythagorus (पैथेगोरस), Zenophone (जेनोफेन), Parmemides (पारमीमिडिज), Zeno (जिनों), Plato (प्लेटो), Platonus (प्लेटोनस), Kant (केन्ट), Fichte (फिक्टे), Hegel (हेगल), Heraclites (हरेकलीटीज), Bruno (ब्रूनो), Spinoza (स्पिनोज़ा) आदि भी यही कहते हैं।

सांख्यमत, आधिभौतिक और आधिवैज्ञानिक मतों के बीच में है। वेदान्तमत, आधिवैज्ञानिक ढंग का है, बल्कि इस में और भी कुछ विलक्षणता है।

जब निद्रा में स्वप्न दिखाई देता है, उस समय ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध बाहरी संसार से कुछ नहीं रहता है। इसलिये वे बाहर से संसार

रचने की कोई सामग्री नहीं लाती हैं। तथापि स्वप्न में बाहरी संसार के सदृश दृश्य दिखाई देते हैं। जब तक स्वप्न अवस्था रहती है तो स्वप्न के सभी दृश्य अच्युत सत्य मालूम होते हैं, परन्तु जागृतावस्था आने पर वे सब मिथ्या हो जाते हैं। यदि संसार रचना के लिये किसी जड़ वस्तु का होना आवश्यक होता तो वे स्वप्न में साँसारिक दृश्यों के समान सत्यदृश्य क्यों बन जाते। दिक्-काल-कारण आदि मन के विकार हैं, कोई मन के बाहर स्वयं सत्तावाली वस्तुएं नहीं हैं। वेदान्तियों का कहना है कि जैसे जागृतावस्था के होने पर स्वप्न के दृश्य असत्य और मिथ्या मालूम होते हैं वैसे ही जागृतावस्था के साँसारिक दृश्य, ज्ञानावस्था प्राप्त होने पर मिथ्या हो जाते हैं, और तब पूर्ण ज्ञान हो जाता है कि संसार सर्वथा असत्य है। यह संसार हमारा मन कल्पित है, वास्तव में कुछ नहीं है। यदि इस मत में यह शंका उठाओ कि यद्यपि निद्रासमय ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध बाहर की वस्तुओं से अलग हो जाता है और वे मन कल्पनाओं के लिये बाहर से सामग्री भी नहीं लाती हैं, तथापि जो सामग्री जागृतावस्था में, वे पहले लाई थीं, अभी बाक़ी है, और उसी के आधार पर मन ने स्वप्न के दृश्य बना लिये हैं। यदि यह सामग्री पहले से नहीं होती तो स्वप्न के दृश्यों का होना असम्भव था। माना कि यह बात हो, तब भी दो बातें सिद्ध हो गईं:—

१—ज्ञानेन्द्रियों से लाई हुई सामग्री पर ही मन, संसार के दृश्य, कल्पना करता है।

२—इस कल्पना करने में, बाहर जैसी वस्तुयें हैं वैसी ही मन कल्पना नहीं करता अर्थात् मनकल्पना से बाहर वस्तु का जैसा का तैसा ही रूप नहीं रहता जैसा कि मनुष्य या किसी वस्तु का रूप दर्पण के प्रतिबिम्ब में होता है, बल्कि बाहर की वस्तु और उस के आधार पर मन कल्पित वस्तु में बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि मन उस चीज़ के

बनाने में अपनी युक्ति का भी प्रयोग करता है। जो वस्तुएं स्वप्न में दिखाई देती हैं, वे ज्यों की त्यों ही नहीं होती जिन्हें हम देख चुके हैं अर्थात् देखी हुई वस्तुओं की सच्ची फोटो नहीं होती, बल्कि वे ऐसी चीजें होती हैं जिन्हें इन रूपों में कभी नहीं देखा था, परन्तु जिस सामग्री से वे बनी है उसे अवश्य देखा था।

यदि स्वप्न के दृश्य बिल्कुल उन दृश्यों की फोटो नहीं हैं जो हमारे देखे हुये हैं तो क्या विश्वास है कि जो दृश्य हम जगृतावस्था में देखते हैं वे बाह्यरी चीजों की सच्ची फोटो हों। इस से यह सिद्ध हुआ कि जो संसार हम देखते हैं वह हमारा ही मनकल्पित है। यदि बाह्यरी संसार है तो दृश्यमान संसार की फोटो नहीं है। किसी वृत्त का प्रतिबिम्ब दर्पण में होना एक बात है, और रूप रस गंध आदि गुणों को लक्ष्णकर अपने ढंगपर एक नया वृत्त बनाने का दूसरी बात है।

इनमतों के अतिरिक्त एक तीसरा मत और है जो कहता है कि यह बात तो मानी कि संसार का ज्ञान मनकल्पित है, और वास्तव में जो सांसारिक पदार्थों का रूप है वह हमें नहीं दिखाई देता, परन्तु क्या बाहर के सांसारिक पदार्थ और मनकल्पित पदार्थों की एक ही स्थिति है? क्या उन दोनों की सत्ता में कुछ अन्तर नहीं है? यदि संसार मनकल्पित ही है तो जब मन चाहे तभी किसी वस्तु को उपस्थित कर भोग कर सकता है। क्या यह हो सकता है कि गुलाब का फूल होने बिना ही गुलाब की सुगंध आने लगे? बिना लड्डूखाये ही मिष्ठान का स्वाद आने लगे? बिना वर्षा में भीगे ही मनुष्य भीग जाये? माना गुलाब का वास्तविक रूप कुड़ही है, लड्डू अपने रूप में कुड़ही है, लेकिन यह तो मानना अवश्य होगा कि ये चीजें बाह्यरी संसार में ऐसे चिन्ह या संकेत हैं कि जिनके होने पर ही मन उनकी कल्पना करता है।

यदि ये संकेत बाहर नहीं हों तो यह कल्पना होना असम्भव है। इसमत के लोग विज्ञानवाद को सत्यसंसारवाद से मिलाते हैं। नतो

यही कहते हैं कि संसार सर्वथा मनकल्पित है, उसकी बाहर सत्ता नहीं, और न यही कहते हैं कि संसार के पदार्थ जैसे दिखाई देते हैं वास्तव में वैसे ही हैं और मनकल्पना उनकी एक सच्ची फोटो है।

गीताने, सांख्य और वेदान्तमतों को मिलाकर संसारोत्पत्ति मानी है, और पंचभूतों के सूक्ष्मतत्व—तन्मात्राओं—का स्थान सूक्ष्म शरीर में रखा है। इसलिए गीता, मनोमय संसार को मानती हुई, यह भी मानती है कि बाहर के संसार में मानसिकदृश्य उत्पन्न करने के संकेत हैं जो तन्मात्राओं से निकले हैं।

संकेतवादियों से कुछ मेल रखती हुई गीता यह विशेष कहती है कि न तो बाहर का संसार ही वास्तव में सत्य है और न मन कल्पित दृश्य ही सत्य है। इन दोनों की व्यावहारिक सत्यता है। वास्तविक-सत्यता तो केवल आत्मा में ही है।

विज्ञानवादी मनकल्पनाओं को सत्य मानते हैं। आधिभौतिकवादी सांसारिक पदार्थों को सत्य मानते हैं। संकेतवादी मनकल्पनाओं को अधिक सत्य और बाहरी पदार्थों को संकेतमात्र सत्य मानते हैं।

गीता, मानसिक और सांसारिक दृश्यों को व्यावहारिक सत्य के न्यूनाधिक अंश मान कर, वास्तविक सत्यता आत्मा में ही मानती है। यही इस विषय में इस का सिद्धांत है।

मोक्ष-क्या है ? इस विषय को पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म पुस्तकों पर ही छोड़ दिया है। अध्यात्मशास्त्र का विषय नहीं बनाया है। यदि कुछ विचार भी किया है तो वह अधूरासा है। भारतीय-शास्त्रों ने इस विषय को अध्यात्मशास्त्र में रख कर खूब विचार किया है।

विवेक द्वारा प्रकृतिरचना का पुरुष के सामने से हट जाना और पुरुष का अकेला रह जाना अर्थात् कैवल्य अवस्था में होना, सांख्य मता-

सुसार मोक्ष है। इस मोक्ष में पुरुष का किसी दूसरे पुरुष से मिल जाना अथवा पुण्योत्तम-परमात्मा-में लय हो जाना नहीं माना है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का मत है कि जीव संसारचक्र से छूट अपनी स्वयं व्यक्ति रखता हुआ मोक्ष में ईश्वर का परमानन्द भोगता है। यही अपवर्ग है।

आत्मा का जीवरूप छूट जाना और जन्ममरणउपाधियों का चक्र नष्ट हो जाना और उस की परमात्मा अथवा ब्रह्म से उपाधिरहित ऐक्यता हो जाना, वेदान्त की मोक्ष है।

ब्रह्म और आत्मा में सदैव वास्तविक ऐक्यता है; परन्तु व्यावहारिक भिन्नता दिखाई देती है। अर्थात् यह ऐक्यता उपाधि सहित है। जब उपाधियाँ, जिन के कारण शुद्ध ऐक्यता भिन्नताप्रधान दिखाई देती है, ज्ञानअग्नि से नष्ट हो जाती है और केवल शुद्ध ऐक्यता रह जाती है, तब मोक्ष होती है। इस मोक्ष में न तो दूसरे पुरुषों से भिन्नता ही रहती है जैसा कि सांख्य का मत है, और न जीव की व्यक्ति ही रहती है जैसा कि न्याय और वैशेषिक का मत है। इस मोक्ष में तो परमात्मा और आत्मा की शुद्ध ऐक्यता ही है। उपाधियाँ, जिन के कारण आत्मा, जीव रूप होकर, जन्ममरण के चक्र में आई मालूम होती है दूर हो जाती हैं। अध्यात्मविषय में हमने पाँच बातें कही हैं:— (१) अक्षर ब्रह्म (२) अत्मा की नित्यता (३) आत्मा और ब्रह्म की ऐक्यता (४) संसार की व्यावहारिक सत्यता और (५) मोक्ष रूप।

इन में से नम्बर २, ३ और ५ पर तो पाश्चात्य अध्यात्मशास्त्र चुप से हैं, और १ और ४ विषयों पर उन के शास्त्रीय विचार गीता के पीछे हैं। गीता में इन पाँचों विषयों पर पूर्ण विचार किया गया है। इसी का दिग्दर्शन इस लेख में कराया है। इन विषयों में पाश्चात्य अध्यात्मिक विचारों से गीता के विचारों की उत्कृष्टता है।

मनोविज्ञानशास्त्र (Psychology)

इस विषय में गीता का कथन है कि बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है ; सात्विक अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन बनते हैं, और तामसी अहंकार से पाँच तनमात्राएं बनती हैं, जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द के उत्पत्तिस्थान हैं, और जिन से पाँच महाभूत-आकाश-जल-वायु-अग्नि और पृथ्वी तत्व उत्पन्न हुये हैं । ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वाह्य पदार्थों में रूप रसादि का अनुभव होता है, परन्तु यह तभी होता है जब इन के साथ मन मिलता है । मन, इन्द्रियों द्वारा लाये हुये अनुभवों को बुद्धि के सामने रखता है । बुद्धि इन का निर्णय कर व्यवस्था देती है, जिसे मन, कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्यपरिणित करता है । तब सब इन्द्रियाँ अपने २ काम करती हैं । इन सब अनुभवों के मिलने का स्थान आत्मा है, जो मन बुद्धि से परे है । यदि यह आधार नहीं हो, तो ये सब इन्द्रियाँ मिलकर भी एक काम नहीं कर सकती हैं । आत्मा अनादि-अमर-अजर-नित्य और परिवर्तनरहित है । इन्द्रियों की क्रियाओं के साथ अहंकार मिलने से ममत्व होता है, और इन सब क्रियाँ का स्मृतिपटल पर अंकित होने से, संस्कार बनते हैं । इन्हीं से कर्म-अकर्म-पाप-पुण्य आदि का चक्र चलने लगता है । इस चक्र के चलने से अहंकारलित जीव को बार २ जन्म लेना पड़ता है । आत्मा जन्म नहीं लेती है । केवल अहंकार, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तनमात्राएं और मन-इनका पिण्ड जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं, जन्म लेता रहता है, और वही सुख दुःख जरा मृत्यु आदिका स्थान है । पाश्चात्य पण्डितों ने मनोविज्ञान शास्त्र में जो तत्व बताये हैं, वे सभी इस के भीतर आजाते हैं । ये पण्डित आत्मा के रूप तक नहीं पहुँचते हैं । केवल (Ego) का विवेचन करते हैं जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं । गीता, सूक्ष्म शरीर Ego को व्यावहारिक जीव कह कर, आत्मा के ज्ञान पर पहुँच गई है ।

पाश्चात्य पंडितों का मनोविज्ञानशास्त्र अधूरा है; क्योंकि उन्होंने उस के संग उस शास्त्र की योजना नहीं की है जिस के द्वारा स्मृतिगुप्त संस्कार व्यक्त हों अथवा इन्द्रियां और मन वशीभूत हों, बुद्धि के सात्विक भाव प्रादुर्भाव हो एवं बुद्धि शुद्ध होने पर आत्मा स्वरूप का अनुभव कर सके। पाश्चात्य विद्वानों ने अभी ऐसे गौरवशाली शास्त्र का आविष्कार नहीं किया है परन्तु भारतवर्ष में यह शास्त्र सहस्रों वर्षों से प्रचलित है। इस का नाम योगशास्त्र है। इसी के द्वारा मनोविज्ञानशास्त्र की सत्यता की जाँच हो सकती है। योगबल से मन की अनेक गुप्तशक्तियाँ जागृत हो सकती हैं। (योग दर्शन पर लेख देखो) इस सम्बन्ध में इतनी बात और याद रहे कि आत्मा को छोड़ और सब इन्द्रियाँ सूक्ष्म प्रकृति के अंशों की बनी है।

आचारशास्त्र (Ethics)

आचारशास्त्र का उद्देश्य पुण्य-पाप तथा अच्छे बुरे कर्मों का विवेचन करना है। अच्छा कर्म क्यों करें? बुरा क्यों छोड़ें? इसका उत्तर तीन प्रकार से दिया जाता है अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टियों से। इस कार्य के करने से लाभ होगा, सुख होगा, हमारा, हमारे कुटुम्बियों, मित्रों एवं समस्त संसार के मनुष्यों का लाभ होगा—इस बुद्धिविचार से कर्म करना, आधिभौतिक दृष्टि है। इसमें केवल शुष्कबुद्धिविचार है जिस से भूल हो सकती है। यह काम हमारा अन्तःकरण ठीक समझता है; इसलिये इसे करना चाहिये—यह आधिदैविक दृष्टि है। इसमें यह दृष्टि है कि सबका अन्तःकरण एकसा नहीं होता है। सभ्यता, विद्या सत्संगादि का प्रभाव अन्तःकरण की वृत्ति बनने में बहुत कुछ पड़ता है; इसलिये अन्तःकरण हमेशा सच्चानेता नहीं है। यह कर्म करना हमारी आत्मा के उपयोगी है या नहीं? परमात्मा आत्मा की ऐक्यता

बताता है या नहीं ? जो समस्त संसार की आत्माओं के साथ हमारा गाढ़ सम्बन्ध है और जिसके कारण जो हमें अभिय और घृणा है वह सभी को वैसा है या नहीं ? इस विचार से काम करना आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार है । गीता, आचारमार्ग में इस दृष्टि को प्रधान मानकर, निष्कामसाम्यबुद्धिसंयुक्त कर्म करना कहती है । जो इस दृष्टि से काम किया जाता है वह कदापि पापकर्म नहीं होता है । पाश्चात्य पंडितों में आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि मानने वाले बहुत हैं, आध्यात्मिक दृष्टि मानने वाले कम । तथापि ग्रीन, केन्टादि आध्यात्मिक दृष्टि मानने वाले हैं; परन्तु ये इस का विचार इतनी स्पष्टता और सरलता से नहीं करते जैसा कि गीता करती है । गीता कर्म की उत्पत्ति गुणों से मानती है । रजोगुण से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से बुद्धिभ्रम, और बुद्धिभ्रम से सर्व नाश होता है । पाप का यही कारण है ।

आत्मा, कर्म नहीं करती है, न उस का सुख दुःख भोगती है । इन सब का सम्बन्ध अहंकारप्रधान सूक्ष्मशारीरिकजीव से ही है, और वही कर्म के चक्र में पड़ता है । रजोगुण द्रव्य से सत्वगुणका प्रादुर्भाव होता है, जिस से अच्छे कर्मों में प्रवृत्ति होती है । किये हुये कर्मों का नाश नहीं होता है । वे सब संचित होते जाते हैं । जीव को उन के फल भोगने के लिये बार २ जन्म लेना पड़ता है । कर्म तीन प्रकार के हैं—संचित, क्रियमाण और भावी ।

जब संचित कर्मों का आरम्भ हो जाता है तो उनका नाम क्रियमाण कर्म होता है, और जिनका आरम्भ नहीं हो वे भावी कर्म कहलाते हैं । किसी ने हत्या, चोरी और परस्त्रीहरण—तीन अपराध किये हैं । ये तीनों उस के संचित कर्म होगये । पुलिस को इन में से एक अपराध अर्थात् चोरी का पता लगा । उसने खोजकर अपराधी को पकड़ लिया । अब सभझो कि चोरी के संचित कर्म के फल का आरम्भ हो गया ।

इस लिये यह क्रियमाण कर्म होगया । इस (चोरी) अपराध का निर्णय होने पर इस मनुष्य को दँड मिला, जो उसे भोगनाही पड़ा; परन्तु अभी दो अपराधों के फल, और भोगना रहगया है । जिस अपराध का फल आरम्भ हो गया, उसे तो मनुष्य रोक ही नहीं सकता है, परन्तु जो आने वाले कर्मफल हैं अर्थात् हत्या और परस्त्रीहरण अपराधों के फल, उन के रोकने की चेष्टा कर सकता है ।

अच्छे कर्म करने और शुद्धवृत्ति रखने से मनुष्य आने वाले फलभोगों से भी बच सकता है, अथवा उन के कपाय को कम कर सकता है । आगे अच्छे फल संचित हों, ऐसा करना, आगामी संचित कर्मफल भोगों को रोकना और आगे के लिये अच्छे कर्म संचित करना, मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धिपराकाष्ठा के भीतर है । मनुष्य केवल परतन्त्र ही नहीं है । गीता का यह कर्मविपाक अच्छे कर्म करने का उपयोगी है ।

पाश्चात्य पंडितों के कर्मविपाकविचार संकुचित हैं । ये, आचारशास्त्र में अच्छे बुरे कर्म करने का निश्चय, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों से करते हैं, और कर्मविपाक विचारों को अधूरा छोड़ देते हैं ।

तीसरी बात, जो पाश्चात्य, आचारशास्त्र में नहीं है और जिसे गीता बताती है, यह है कि वे अच्छे कर्म कोन से हैं जिन से जीव, कर्मविपाक के भगड़े से छूट कर, मोक्ष प्राप्त करे । यह विषय पाश्चात्यपंडितों ने धर्मशास्त्रों पर ही छोड़ दिया है, और उनमें शास्त्रीयरीति से इस विषय पर विचार नहीं किया गया है ।

गीता कहती है कि सब कर्म इच्छा से होते हैं । वासना का शुद्ध होना आवश्यक है । इसी से साम्यबुद्धि होती है । निष्कामकर्म करने से वासनाएं शुद्ध होती हैं । परन्तु यही फल ज्ञानमार्ग-भक्तिमार्ग-ध्यान-योग से भी हो सकता है । यदि और कोई भी उपाय हो, जिस से यह फल हो सके, तो वह भी मोक्षप्राप्ति का साधन है । एक उपाय ही नहीं

है कि जिस से यह फल होता है। जैसी श्रद्धा होती है वैसी ही भावना होती है।

जब वासना अच्छी होजाती है, जब दुपित कर्म छूट जाते हैं और ब्रह्म जीव की ऐक्यता देखने लगती है, तो मनुष्य इसी जन्म में जीवन्मुक्त हो जाता है, और मृत्यु के पश्चात् उस का फिर जन्म नहीं होता है।

सामाजिक शास्त्र (Social Polity)

आचारधर्म से ही सामाजिक स्थिति और सुधार का सम्बन्ध है। इस विषय में पाश्चात्यपंडित आधिभौतिक सिद्धान्त लगाते हैं; परन्तु गीता इन में भी आध्यात्मिक दृष्टि का प्रयोग करती है। जिस समाज में गीता के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि के सदाचारी मनुष्य हैं, वह समाज श्रेष्ठ है, और उस की स्थिति अटल है। गीता कहती है कि समाज के संचालन के लिये अर्थात् लोकसंग्रह के लिये जीवन्मुक्त मनुष्यों को भी संसार में ही रहना चाहिये। इस के उदाहरण—राजा जनक-श्रीकृष्ण, श्री रामचन्द्रादि हैं। गीता, जातियों के नियतधर्म बताती है। समाज में शुद्धाचारी मनुष्य होने को कहती है। प्रत्येक को अपना नियतकर्म निष्काम होकर करने का उपदेश देती है, और इस प्रकार सामाजिक वृद्धि की अटल स्थितिकरती है। पाश्चात्य सामाजिकस्थिति के ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं हैं।

धर्मशास्त्र (Theology)

इस शास्त्र में प्रायः ईश्वर-जीव-मोक्ष और मोक्षप्राप्ति के साधनों का वर्णन होता है। ईश्वर विषय में ये मत प्रचलित हैं:—

निर्गुण ब्रह्म (Impersonal God, Spiritual Monism)

सगुण ब्रह्म (ईश्वर) (Personal God, Theism)

विश्वब्रह्मवाद (Pantheism)

अनेक ईश्वरवाद (Polytheism)

पाश्चात्यधर्म में सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। इस कारण इस के धार्मिक सिद्धान्त ज्ञानशास्त्र के तर्क से कट जाते हैं। गीता में सगुण और निर्गुण ब्रह्म, दोनों का वर्णन है। वास्तव में ब्रह्म निर्गुण ही है, परन्तु माया या प्रकृति के रूप-नाम जाल-के कारण सगुण हो जाता है। निर्गुण से सगुण होने की क्रिया में ब्रह्म में विकार नहीं होता है अर्थात् सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का परिणित नहीं है जैसे कि दही दूध का है। ऐसा हो तो विकार अवश्य होगा। जैसे एक सूर्य निर्मल आकाश में शुद्ध ज्योतिस्वरूप दिखाई देता है और बादलों से आच्छादित होकर मलिन दिखाई देता है, परन्तु सूर्य में कोई विकार नहीं होता है वैसे ही ब्रह्म अपने स्वरूप में निर्गुण है; मायाउपाधिआवरण से सगुण हो जाता है।

निर्मल प्रकाशवान् सूर्य सभी को उपयोगी नहीं है। धोबी को कपड़े सुखाने के लिये निर्मल सूर्य की आवश्यकता है। पथिक को जिसे अभी दूर जाना है तेज सूर्य की आवश्यकता नहीं, बल्कि बादलों से आच्छादित मलिन सूर्य की—अंधकार की भी आवश्यकता नहीं—नहीं तो मार्ग दिखाई ही नहीं देगा। ऐसे ही निर्गुण और सगुण ब्रह्म की अपनी २ आवश्यकतानुसार आवश्यकता है। गीता दोनों स्वरूपों को मानती है। जब ईश्वर विषय में वैज्ञानिकतर्क उपस्थित होता है तो निर्गुण ब्रह्म की अटल भूमिपर गीता अपनी विजय पताका फहराती है, और जब संसारीमनुष्यों को मोक्षसाधनमार्ग बताना होता है, तब सगुण ब्रह्म का उपदेश करती है। इसके सिवा गीता यह भी कहती है कि ब्रह्म एक है और सबका आधार है, इसलिये जितने देवी देवता हैं, उन सबमें ब्रह्म का ही मूल तत्त्व है, और जो उनकी पूजा करते हैं वे ईश्वर ही को पूजते हैं। इस तरह अनेकईश्वरवाद (Polytheism) का भी

समर्थन करती है। पाश्चात्य पंडित, अनेकईश्वरवाद (Polytheism) का अर्थ पृथक् पृथक् बहुत से ईश्वरों की पूजा करना कहते हैं। उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। ऐसे Polytheism को गीता नहीं मानती है।

सब संसार में जो कुछ है वह ईश्वर ही है। इस मत के मानने वाले यदि यह माने कि ईंट, पत्थर वृक्षादि सभी ईश्वर के स्वरूप हैं अथवा ईश्वरकी देह के बने हैं जैसा दही दूध का बना है, और जितना संसार है उतना ही बड़ा ब्रह्म है, तो इस से गीता सहमत नहीं है। पाश्चात्य पंडित विश्वब्रह्मवाद (Pantheism) का यही अर्थ मानते हैं। यदि इस का यह अर्थ किया जाय कि समस्त संसार के पदार्थ ईश्वर के आधार पर ही हैं, और जो श्रेष्ठ और उत्तम पदार्थ हैं, उन में ईश्वर की ही अधिक झलक है, और ब्रह्म इस समस्त संसार का व्यापक होने पर भी उसके परे अपरमित और है, तो गीता इस बात को मानती है, और उस के कई अध्यायों में इस मत का आच्छा वर्णन है। उस का विराट् रूप इसी मत का प्रमाण है। इस लिये गीता संसार की सब धर्मपुस्तकों के मतों को मानती है और

की का खंडन नहीं करती है। मोक्ष साधन विषय में पाश्चात्य धर्म पुस्तकों में लोकसेवा और भक्तिमत प्रधान है। गीता इन सब को मानती हुई अनेक मार्ग बताती है; जैसे ज्ञान-कर्म-ध्यान-सन्यास-याज्ञ-मार्गादि। वह किसी मार्ग की निन्दा नहीं करती है। शुद्ध वासना सब साधनों का तत्व है। गीता का उपदेश संकुचित नहीं है, बल्कि पूर्ण औदार्य। कर्मकाण्ड के विषय में अन्य धर्मशास्त्रों की अनेक भिन्न २ विधियाँ हैं। सब वैदिक और स्मार्तिक कर्म बताती हुई, गीता जाति नियतधर्म करने का उपदेश करती है। मनुष्यों को कर्मकाण्ड के सभी साधन करने की स्वतन्त्रता देती है। वह न तो किसी पूजा पाठ नियम अथवा धार्मिक अनुष्ठानों को करने को कहती है, और न किसी की निन्दा करती है।

श्री कृष्णचन्द्रजी के जीवन पर एक दृष्टि ।

प्राचीन भारतवर्ष में सब से बड़े प्रभावशाली महान पुरुष श्री-कृष्णचन्द्रजी हुए हैं । इनके नामकी प्रभाज्योति से भारत आकाश आज तक प्रकाशित हो रहा है । इनके नाम की महिमा का चमत्कार चतुर्दिकं व्याप्त है । हिन्दूजातिमात्र इस नाम को बड़े सन्मान और श्रद्धा से मान रही है । श्री कृष्णचन्द्र जी की बुद्धि का चमत्कार ऐसा अद्भुत और प्रभावशाली था कि संसार भर के समस्त कार्य्यों में इन को सफलता प्राप्त हुई थी । अगणित नरनारी श्री कृष्णचन्द्रजी के विचित्र और अद्भुत कार्य्यों का गुणानुवाद मुक्तकण्ठ से करते हैं । उनके उपदेशों का प्रभाव अभीतक हिन्दूजाति के हृदयाङ्कित है । भारतवर्ष के प्रारब्ध का निस्तार उन्हीं के उपदेशों द्वारा है । भगवद्गीता, भारतवर्ष के वैज्ञानिक और धार्मिक विचारों की चरमसीमा बतलाने वाली है । उसका पाठ असंख्य घरों में प्रतिदिन होता है ।

श्री कृष्णजी के जन्म के विषय में कुछ विद्वानों की सम्मति है कि उनका जन्म हज़रत ईसा से ३१८५ वर्ष पहले हुआ था । इस सम्मति की पुष्टि अब इतिहास द्वारा भी होती है । यूनान देश के विद्वान मेगास्थनीज़ ने—जो सिकन्दर बादशाह के पीछे हिन्दुस्तान में सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरवार में रहा था—लिखा है कि डौनस्स से चन्द्रगुप्त राजा तक १५३ राजा, ६०४२ वर्ष में हुये थे, और हेरेकुलीज़ डौनस्स से पन्द्रह पीढ़ी पीछे हुआ था । ”

इन्हीं महानुभाव के निम्नलिखित वाक्यों से ज्ञात होता है कि हेरेकुलीज़ से अभिप्राय श्री कृष्णचन्द्रजी से है:—

“हेरेकुलीज़ ने बहुत सी स्त्रियों से विवाह किया था, और सुरवंशी लोग—जिनका निवासस्थान मथुरा था—इनकी पूजा करते थे । यदि

१५३ में से १५ बटा दिये जाय, तो १३८ बचते हैं।" इन महानुभाव के लेखानुसार १३८ पीढ़ियाँ कृष्णजी से चन्द्रगुप्त राजा तक, हो चुकी थीं; यदि एक पीढ़ी कम से कम २० वर्ष की समझी जावे, तो श्रीकृष्णजी के समय से २७६० वर्ष हो चुके थे। इस प्रकार पूर्वोक्त समय हज़रत ईसा के जन्म से ३०७२ वर्ष पहले का ठीक निश्चय होता है। कृष्णजी की अवस्था, मृत्यु के समय, ११३ वर्ष की थी। उस समय इतनी दीर्घायु होना असम्भव नहीं था। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि महाभारत में लिखा है "युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय श्री कृष्णचन्द्र जी की वृद्धावस्था थी"। यह बात शिशुपाल के वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है। पूर्वोक्त विचारों से ज्ञात होता है कि इनकी अवस्था, राजसूय यज्ञ के समय, ७१ वर्ष और महाभारत युद्ध के समय ८४ वर्ष की थी।

कृष्णजी का जन्म क्षत्रियों के यादववंश में हुआ था। यादव लोग मथुरा के जिले में यमुना नदी के तट पर रहते थे। इनका पहला राजा सूरसेन मथुरा का था। इस राजा के पुत्रों में से एक का नाम वासुदेव, और पुत्रियों में से एक का नाम कुन्ती था; इसी वंश में से भोजाओं के राजा ने इस पुत्री को गोद ले लिया था। वासुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ से कृष्णजी का जन्म हुआ था; दूसरी स्त्री रोहणी से बलरामजी उत्पन्न हुए थे। कुन्ती, जिसका विवाह राजा पांडुके साथ हुआ था, युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन की माता थी। इस प्रकार ये तीनों, श्रीकृष्णचन्द्र और बलराम, आपस में एक प्रकार के भाई हुए; क्योंकि वासुदेव और कुन्ती सगे भाई बहिन थे। वासुदेव ने इस भय से कि राजा कंस, 'बालक श्रीकृष्ण' का घब्र न करा डाले, उनको यमुना पार गोकुल में भेज दिया था। गोकुल ही में इनका लड़कपन व्यतीत हुआ।

अद्भुत सुन्दरता, पराक्रम और तीव्र बुद्धिमत्ता के कारण, जो कोई कृष्णजी से मिलता था, उन पर मोहित हो जाता था। कृष्णजी के विषय

में व्यभिचार और दूषित कर्मों का जो अपवाद है वह अमूलक है। महाभारत में इसका कहीं भी वर्णन नहीं है। भागवत पुराण और गीतगोविन्द ही इसके प्रमाण में बताये जाते हैं। कृष्णजी को बालकस्वरूप में माननेवाले भक्तजनों का अधिक प्रेम और भक्ति ही इसका कारण है। क्या यह बात नहीं देखी जाती है कि माँ बाप अथवा दूसरे कुटुम्बी जन वधों से अधिक मोह और प्रेम के कारण उनको दूषित नामों से पुकारने लगते हैं, अथवा उनपर दूषित कर्मों का आक्षेप करते हैं ? इसमें कोई संदेह नहीं कि यादवलोग ग्वाला थे और दूसरे क्षत्रियों के देखते मिलने जुलने इत्यादि व्यवहारों में अधिकरुकावट वा बंधन नहीं रखते थे। इनकी स्त्रियों के चालढाल वर्ताव में स्वतन्त्रता थी। यह हो सकता है कि वृन्दावन की स्त्रियाँ इस सुन्दर मनोहर राजकुमार के साथ अधिक प्रीति और मोह रखती रही हों; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें विषयभोगादि की कोई इच्छा थी। यह भी हो सकता है कि सच्चे वात्सल्य प्रेम के कारण उनको कृष्णजी के वृन्दावन से चले जाने पर बड़ा शोक हुआ हो। इसके अतिरिक्त भागवत पुराण में यह भी उल्लेख है कि जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र ने इन स्त्रियों के साथ खेल-कूद क्रीड़ादि की उस समय उनकी अवस्था ऋषभ की थी। राधा का तो नाम भी इस पुराण में नहीं मिलता है। योधा, नीतिज्ञ, उपदेशक, तत्ववेत्ता-इन रूपों में श्रीकृष्णचन्द्रजी का वर्णन महाभारत में पाया जाता है। दोषदर्शी जनों को इस वर्णन के पढ़ने से निश्चय हो जायगा कि दूषित और मलिन कर्मों का आक्षेप जो श्रीकृष्णजी पर किया जाता है, वह अमूलक है। हालाही में किसी विद्वान ने लिखा है— “ जो जो दोष और कलङ्क श्रीकृष्णजी पर लगाये गये हैं, वे, यदि उनसे भी अधिक होते, तो भी कृष्णजी ने भगवद्गीता द्वारा जो ज्ञानोपदेश किया है उसके सामने कुछ भी न होते, और गुणाधिक्य से छिप जाते। ”

गीता वह प्रभावशाली अमृतरूपी ग्रन्थ है कि जिसके कारण संसारभरके उपदेश-वक्ताओंमें श्री कृष्णचन्द्रजी की उच्चतम पदवी है, एवं वे, ईश्वर माने गये हैं।

भक्तिमार्ग का उपदेश जो कृष्णजी ने किया है, कुछ अपवाद का कारण हो सकता है। तुच्छ बुद्धिवाले भक्तजनों के प्रचार में इस मार्ग के उत्तम पारमार्थिक उद्देश्यों का आशय गिर गया हो, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि ईश्वरभक्ति की धहुलता को, विषय-भोग के प्रेम से गहराई बतलाने के लिये जो उपमा दी जाती है, वह केवल उपमामात्र ही है, न कि यह कि दोनों भाव एक ही हैं। जो प्रेम धार्मिक मनुष्य ईश्वरप्रति अनुभव करता है, उसकी उपमा उस प्रेम से दी जासकती है जो एक स्त्री अपने प्रेमी पुरुष के साथ रखती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह दोनों प्रेम एकही प्रकार और जाति के हैं। इन दोनों प्रेमों में बड़ा अन्तर है—एक तो पवित्र और पारमार्थिक है, और दूसरा मलिन और स्वार्थ से सना है।

कृष्णजी के जीवन में मथुरा के दैत्यराज कंस को वध करना द्वितीय घटना है। कंस ने यादवों को मथुरा से निकाल दिया था और मगध देश के महापराक्रमी राजा जरासंध की दो पुत्रियों के साथ विवाह कर लिया था। इसी सम्बन्ध के बल से कंस ने अपनी जाति वालों पर अत्याचार करना आरम्भ किया, और दिन प्रति दिन बलवान् और ऐश्वर्यसम्पन्न होता गया। पीड़ितजातिवालों ने श्रीकृष्णजी से प्रार्थना की कि भगवन् इस दुष्ट राजा के अत्याचारों से हमारी रक्षा कीजिये। धर्म-स्थापन के लिये कृष्णजी और उन के भाई बलराम ने दुष्ट कंस का वध किया। जरासंध को अपने जामाता के मारे जाने पर बड़ा क्रोध हुआ, और उसने मथुरा पर आक्रमण कर दिया। पहली बार इस को पीछे हटना पड़ा, और तीन वर्ष तक शान्ति रही। परन्तु यह शान्ति ऐसी ही थी जैसी प्रचंड वायुप्रवाह के पूर्व होती है। अगणित सेना ले कर

जरासंध ने फिर चढ़ाई की और कृष्णजी को सकुटुम्ब मथुरा से भागना पड़ा। पश्चिम समुद्र के तट पर जाकर इन्होंने द्वारकापुरी बसाई। इस स्थान में शान्तिपूर्वक निवास करते हुए यादववंश की बड़ी वृद्धि हुई और अठारह हज़ार यादवों का समूह हो गया। वृष्णी, माधव, भोजादि नामों से यह लोग विख्यात हो गये। इस समय कृष्णजी का नाम वीरों और नीतिज्ञों में सुप्रसिद्ध हो गया था। जनसमूह के ये प्रसिद्ध नेता गिने जाते थे। इन्होंने नये २ उपवासस्थान बसाये थे, और काठियावाड़ बसाना इनमें पहला काम था। कृष्णजी की नये उपवासस्थान स्थापन करने की योग्यता और बुद्धिचमत्कार इससे ज्ञात होगा कि पांडवों ने इन्हीं की सहायता से यमुना नदी के पश्चिम भाग में एक नया निवासस्थान बनाया था। द्रौपदी से विवाह करने के पश्चात् राजा धृतराष्ट्र ने पांडवों को पांडु राजा के पुत्र मानकर यमुना के पश्चिम में खांडववन हिस्से में दिया था। तब कृष्णजी ने इस भयंकर वन को दावानल द्वारा जला देने का साहसी उपाय बतलाया। इस प्रकार, जंगली जानवर और नीच कुटिल मनुष्य, वन से निकल गये, और इस स्थान पर पांडवों का गौरवशाली राज्य स्थापित हुआ।

इस देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ बनाई गई, जिस को अब दिल्ली कहते हैं। मित्रता के विचार से देखा जाय तो पांडवों की, विशेष कर अर्जुन की, कृष्णजी ने बड़ी सहायता की थी। श्रीकृष्ण और अर्जुन बड़े गाढ़े मित्र थे। पांडवों के वन जाने पर श्रीकृष्ण ही ने उनकी सहायता की थी। यह कृष्णजी ही थे जिन्होंने मगध के महापराक्रमी राजा जरासंध को मारने में पांडवों की सहायता की, जिससे पांडवों का भारतवर्ष में चक्रवर्ती राज्य हो गया। यह श्रीकृष्णचन्द्र ही थे जिनके उपदेश और नीतिपूर्ण उपदेशों से पांडवों ने कौरवों पर जय पाई। इनकी सहायता से ही पांडवों की राज्यवृद्धि हुई। यद्यपि समस्त जीवसमूह के प्रति इनकी दया और कृपालुता थी, तदपि लौकिक

चातुर्य और बुद्धिमत्ता, जिसके द्वारा अधर्म और धज पर सत्य को जय प्राप्त होती है, इन में कूट कूट कर भरी थी। यदि कृष्णजी ने दुष्टों और अत्याचारियों का वध किया तो यह कोई स्वार्थ प्रेरणा से नहीं किया, किन्तु परोपकार और सत्य मर्यादा स्थापन करने के लिये। शिशुपाल का वध किया तो जानकर नहीं किया। जब इस दुष्ट ने इनके आचरण और प्रतिष्ठा पर दोष लगाया तो कृष्णजी को अपने तर्क निर्दोष प्रतीत करने के लिये विवश होना पड़ा। कृष्णजी ने शिशुपाल को धार २ अवसर दिया कि वह उनका अपमान न करे, परन्तु वह दुष्टता करता ही गया और राजसूययज्ञ के अवसर पर जो बड़े २ राजा और महाराजा एकत्रित हुए थे उन की दृष्टि में कृष्णजी की प्रतिष्ठा नीची करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझा; ऐसी वशा में कृष्णजी को उसका वध करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

यदि कृष्णजी की नीतिधुरंधरता के उदाहरण की आवश्यकता हो, तो कृष्णजी की वृद्ध वक्तृता जो उन्होंने दुर्योधन की सभा में उस अवसर पर दी थी जब कि वह दोनों पक्षों में मेल कराने के अभिप्राय से दूत बन कर गये थे, पूर्ण प्रमाण है। इस अवसर पर कोई बात अपने कार्य सिद्धि के लिये शेष नहीं रखी थी, परन्तु जब उनको श्वात होगया कि सफलता प्राप्त न होगी, तो बड़ी चतुराई से लौट आये, और दुष्ट कोखों ने जो २ उपद्रव करने के प्रयास किये थे वे सब इनकी तीव्र बुद्धिमत्ता से वृथा हुए। कृष्णजी ने प्रण किया था कि, महाभारत युद्ध में किसी तरफ से नहीं लड़ेंगे; दोनों पक्ष वालों के मित्र होने से दोनों से कह दिया था कि मैं नहीं लड़ूँगा। पांडवों की तरफ से अर्जुन ने केवल श्रीकृष्ण को जिनका इस युद्ध में शस्त्र नहीं उठाने का प्रण था, लेलिया और दुर्योधन ने इनकी चतुराङ्गी सेना को लेलिया। ऐसा विचार किया कि अकेले निःशस्त्र श्रीकृष्ण अपनी सेना के बराबर नहीं हो सकते।। महाभारत के युद्ध में आदि से अन्त तक कृष्णजी ने जो

निष्पत्तता का प्रण किया था उसे निवाहा। जो बलशालिनी सेना दुर्योधन को दी थी, उसके बल से अधिक केवल निःशस्त्र कृष्ण का गौरव था।

कृष्णजी केवल योधा, नीतिज्ञ और समाजसुधारक ही नहीं थे, किन्तु धुरन्धर धर्मोपदेशक और विज्ञानवेत्ता भी थे। भगवद्गीता कृष्णजी की प्रखर बुद्धि और उनके गौरव का प्रमाण है। केवल अपनी अलौकिकता ही के कारण ये भगवान विष्णु के सव से बड़े अवतारों में माने गए। हिन्दूजाति सदस्यों वर्षों से इनको ईश्वर मानकर पूजा और स्तुति करती चली आरही है। यह मानता और पूजा कृष्णजी की राजा युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में शिशुपालवध के पश्चात् आरम्भ हुई; क्योंकि उसी अवसर पर समस्त भूमंडल के राजाओं में इन की ऊँची पदवी मानकर ईश्वर भाव से पूजा की गई थी।

खानपान के विषय में कृष्णजी शाकपात अन्नादि के भोजन करने वाले थे, मांस मदिरा से पूरी घृणा करते थे। यादववंशी इन दोषों से रहित नहीं थे, परन्तु कृष्णजी को इन अस्वाद्य वस्तुओं से निरन्तर घृणा रही। सत्य का पालन करना, असत्य का तिरस्कार करना, इनका सदैव नियम रहा। निर्बल को बलवान से रक्षाकर, बलकी अपेक्षा सत्य को बड़ा समझ, उसका पक्ष करना, इनके जीवन का नियम था।

राज्यप्रबंध कुशलता के उदाहरण में द्वारकापुरी की प्रबन्धकुशलता और यादवों की समृद्धि, धताई जा सकती हैं। सत्य और धर्म पालन के आभेप्राय से अपने वंश का नाश होने पर भी, आप उदासीन रहे। जब कृष्णजी ने देखा कि यादव लोग अपने बल और धन के मद से गर्वित हो रहे हैं, और सत्य और धर्म के मार्ग से विमुख हो गये हैं, तो ऐसा उपाय किया कि जिससे उनका नाश हो गया। क्योंकि कृष्णजी का उद्देश्य तो अधर्म का नाशकर धर्म का स्थापन करना ही था।

इनकी मृत्यु के विषय में ऐसा लिखा है कि जब इनके कुटुम्ब और वंश का नाश हो गया, तो कृष्णजी वन को चले गये और जब एक वृक्ष के नीचे सो रहे थे, एक व्याध ने द्विचरण के धोखे से तीर मारा, जो इनके एक पैर में लगा और मृत्यु का कारण हुआ ।

श्रीकृष्णजी के सखरित्र की सूचना उस शपथ से औरभी स्पष्ट होती है जो उन्होंने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के मरे लड़के को फिर से जिताने के समय की थी । यह पुत्रजीवनदान, कौरववंश को नाश से बचाने की इच्छा से, कुन्ती और द्रौपदी की विनती पर दिया था । शपथ के वाक्य ये हैं—“ यदि मैंने हँसी में भी कभी झूठ नहीं बोला हो, यदि युद्ध में कभी पीठ नहीं फेरी हो, तो यह बालक पुनर्जीवित हो उठे । मैंने धर्म और ब्राह्मणों का सदैव पालन किया है, इससे यह अभिमन्यु का पुत्र जीवित हो जाय । कार्य सफलता के पश्चात् मैंने किसी से कभी शत्रुभाव नहीं रक्खा है, कंस-केशी को सत्य और धर्म के लिये ही बध किया है, इससे यह बालक फिर उठ सड़ा हो । ”

इसके पढ़ने से ज्ञात होगा कि इस अवसर पर कृष्णजी ने अपने योगबल अथवा दैवी शक्ति से काम नहीं लिया है । काम लिया है केवल अपनी धर्मगौरवता, सत्यता, और वीरता से ।

यही कारण कर्मयोगी कृष्ण के आदर्श पुरुष होने का—देव तुल्य माने जाने का—है ।

श्रीकृष्णचरित्रका गूढ़आशय ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका चरित्र बड़ा अद्भुत और विस्मयजनक है। सब अवतारों में कृष्णावतार सम्पूर्ण हुआ है। जितने कार्य श्रीकृष्ण के हैं, सब में अद्भुतता और महत्व भरा है। सामान्य मनुष्य इन रहस्यों के समझने में असमर्थ हैं। जो श्रद्धा और विश्वास से श्रीकृष्णकी भक्ति करते हैं, उन्हें कोई सन्देह नहीं होता है, परन्तु जो वाद् विवाद में रुचि रखने वाले हैं, उन्हें सर्वदा शंकाएँ हुआ करती हैं। जिन चरित्रों को वे समझ नहीं सकते हैं, उनमें दोष आरोपण करते रहते हैं। श्रीकृष्ण के चरित्र में ऐसे मनुष्यों की दोष निकालने की निरन्तर चेष्टा रहती है।

नीचे कुछ ऐसे चरित्रों का गूढ़ आशय लिखा जाता है जिन पर सदैव आक्षेप हुआ करते हैं।

चौरहरण लीला ।

पहले यह बता देने की आवश्यकता है कि जिस समय के कार्य अथवा घटना पर विचार करना है, उस समयकी रीति और प्रथाओं का पूरा ध्यान रखना चाहिये। ऐतिहासिक दृष्टि के बिना किसी ऐतिहासिक घटना का पूर्ण निर्णय नहीं हो सकता है। जिस समय कृष्णावतार हुआ है, उस समय व्रज में क्या क्या रीति कुरीति प्रचलित थीं और मनुष्य और स्त्रियों का परस्पर क्या व्यवहार था, यह जानना जरूरी है। यह बहुत पुराने समय की बात है। आधुनिक रीति व्यवहारों से तत्कालीन रीति व्यवहारों की तुलना नहीं हो सकती है। दोषारोपण करनेवाले इस ऐतिहासिक दृष्टि को भूल जाते हैं और प्राचीन से प्राचीन बातों को आधुनिक रीति और प्रथाओं की दृष्टि से देखने लगते हैं। इसमें बड़ी भूल होती है और प्राचीन कालिक वस्तुओं अथवा घटनाओं का पूर्ण विवेचन नहीं होता है।

अब यह घटना है कि जिस समय में कृष्ण भगवान् वृन्दावन में थे, उस समय उस स्थान की सभ्यता-सम्बन्धी क्या दशा थी। कोई इति-

हास नहीं है जिस से यह बात स्पष्ट और शीघ्र मालूम हो जाय, परन्तु जिन पुस्तकों में कृष्णचरित्र दिया हुआ है उन्हीं में उस समय के रीति व्यवहार की झलक भी विद्यमान है। ध्यान से पढ़ने से ज्ञात होगा कि वृन्दावन में स्त्रियों के नग्न स्नान करने की रीति चली आती थी। यह रीति अति निन्दनीय थी और उसके दूरकरने की भी चेष्टाएँ की गई थीं, परन्तु फलीभूत नहीं हुई थीं। इस कुरीति को दूरकरने का विचार श्रीकृष्णचन्द्रजी ने किया और यह निश्चय किया कि जब तक नग्न स्नान करनेवाली स्त्रियों को लज्जादिलाने वाला दंड नहीं मिलेगा, तब तक इनकी यह कुरीति छूटना असम्भव है। अतः एक दिन जब बहुत स्त्रियाँ अपने बखों को किनारे पर धरकर नग्नस्नान कर रही थीं, श्रीकृष्ण भगवान् जिन्हें यह अत्यावश्यक सामाजिक सुधार करना था, इन बखों को लेकर एक घृत्नपर चढ़ गये और जब स्त्रियाँ स्नान करके बाहर निकलीं और अपने बखों को नहीं पाया तो बड़े कष्ट में पड़ीं। इस समय श्रीकृष्ण ने उनसे कहा “ हे गोपियो ! तुम बड़ी मूर्ख हो, तीर्थ-स्थान में नग्नस्नान करती हो। इसका दंड यही है कि जयतक तुम नग्न अवस्था में आकर अपने बख नही लेजाओगी, तो मैं बख नहीं दूंगा”। गोपियाँ बड़ी लज्जित हुईं और उस दिन से उन लोगों ने प्रतिज्ञा की कि नग्न होकर कभी स्नान नहीं करेंगी। ऐसी प्रतिज्ञा करने पर कृष्ण ने सब बख दे दिये, और इस प्राचीन कुरीति का उसी दिन से लोप होगया।

अब प्रश्न है कि यह सामाजिक सुधार था या व्याभिचार। कोई समझदार मनुष्य इसे बुरा नहीं कह सकता है। सामाजिकसुधारकों को सुधार करने में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं और दूसरों के उपकार के लिये अपनी प्रतिष्ठा तक खो देनी पड़ती है। सब सुधार करनेवाले कभी विचल नहीं होते हैं और अपमान और सम्मान से उपेक्षित होकर अपना नियत कार्य करते ही रहते हैं। श्रीकृष्ण ने इस

शात की कुछ परवा नहीं की कि लोग क्या कहेंगे। उनको जो सुधार करना था कर डाला। यदि श्रीकृष्ण का यह कार्य अनुचित और निन्दनीय था, तो उन स्त्रियों के पतियों ने क्यों नहीं आन्दोलन किया और कृष्ण को क्यों नहीं दंड दिया। ऐसा तो कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत यह तो श्रात होता है कि इस कुरीति के दूर हो जाने से, कृष्ण की सभी ने प्रशंसा की। जैसा कृष्ण पर दोषारोपण वालों को यह कार्य बुरा और निन्दनीय मालूम होता है वैसा उन स्त्रियों के पति, भ्राता, पिता आदि को क्यों नहीं मालूम हुआ। इससे सिद्ध है कि यह कार्य कोई निन्दनीय नहीं था। केवल सुधार के अभिप्राय से ही किया गया था।

इससे कृष्ण की सामाजिक सुधार की बुद्धिमत्ता पाई जाती है, न कि उनका दुराचरण। इसके सिवा इस समय कृष्ण की सात वर्ष की अवस्था थी। कौन कह सकता है कि ऐसे बालक को कोई काम-सम्बन्धी अनुराग उत्पन्न हुआ हो।

जो भक्ति मार्ग को मानते हैं उनका कहना है कि तन्मय भक्ति सब से श्रेष्ठ है। गोपियां कृष्ण में भक्ति करती थीं, परन्तु सर्वाङ्गिनी भक्ति नहीं थी। इनको अपनी भक्ति का अभिमान था। कृष्ण ने इसकी परीक्षा ली है। इस परीक्षा में जब गोपियां पूरी नहीं निकलीं तो कृष्ण ने उनके अभिमान का उपालम्भ किया, जिस से गोपियों का अभिमान जाता रहा।

कृष्ण को जब भगवान मान लिया, तो उन से किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। वे घट घट के ज्ञानी हैं, कोई बात उन से छिपी नहीं है। जिन की पूर्णभक्ति परमेश्वर में हो जाती है, वे संसार की किसी वस्तु का ध्यान नहीं रखते, न उसकी कुछ परवा करते हैं। सभी जानते हैं कि पूर्ण सन्यासी, जो परमहंस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, सब

वस्त्रों को फेंक कर नग्न रहते हैं। क्या उनका नग्न रहना लौकिक दृष्टि से बुरा नहीं है? बेशक बुरा है, परन्तु कोई ऐसा नहीं कहता। जैन-दिगम्बरी साधु नग्न रहते हैं। जैनमूर्तियां नग्न होती हैं जिन के दर्शन सभी गृहस्थ करते हैं। परमहंस साधु नग्न रहते हैं। लौकिक दृष्टि, जो गोपियों के चरित्र में लगाई जाती है, इन साधुओं के चरित्र में नहीं लगाई जाती है। नहीं तो इन सबको बुरा कहना पड़ेगा। क्या परमेश्वर मनुष्यों को अपने सामने नग्न बुलाता है जिससे ये सब नग्न हो गये हैं? कदापि नहीं। ये तो संसार की माया का चिन्ह है? ईश्वर के सामने वही पहुंचता है जो संसार की सब बातों को छोड़ देता है और उन में कुछ भी रुचि नहीं रखता, न सांसारिक बन्धनों की कुछ परवा करता है। गोपियां अभी इस श्रेणी पर नहीं पहुंची थीं। श्रीकृष्ण ने इस बात की जांच करली।

श्री कृष्ण की रासलीला।

कृष्णचन्द्रजी पर दूसरा आक्षेप यह है कि वे सर्वदा तरुणगोपियों के साथ रहा करते थे और खेल क्रीड़ा करते रहते थे। यदि कृष्णचन्द्र शुद्धाचरण के होते, तो उन को स्त्रियों के साथ ऐसा अनुराग क्यों होता और इन तरुण बालाओं से क्रीड़ा करने में उनका क्या अभिप्राय था?

इस बात को पहिले ही कह आये हैं कि जिस घटना की ऐतिहासिक दृष्टि छोड़ कर समालोचना की जाती है, उसका कभी पूर्ण और सत्य ज्ञान नहीं होता है। जिस समय श्रीकृष्ण ब्रज में रहते थे उस समय का हाल मालूम करना अत्यावश्यक है, और यह हाल उन्हीं पुस्तकों से मालूम हो सकता है जिन में श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वर्णन किया गया है।

पाठकों को इस तरफ ध्यान दिलाना भी आवश्यक है कि इस देश में परदे की रिवाज मुसलमानी समय से ही है और जिन प्रांतों में मुसलमानों का अधिक प्रभाव रहा है वहां परदे की कठिनाइयां भी

अधिक हो गई हैं। प्राचीन भारत में स्त्री-पुरुषों में परस्पर व्यवहार उसी रीति से था जैसा कि आजकल योरुप की सभ्य जातियों में दिखाई देता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कृष्णचन्द्र के समय स्त्री-पुरुषों के परस्पर मिलने अथवा वार्तालाप करने में कोई रुकावट नहीं थी। दूसरे इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी है कि जिस जाति की गोपियां थीं उस में मानसिक सभ्यता अथवा विद्या-प्रचार कम हुआ था। गोपगो-पियां स्वतंत्रता से रहती थीं। छल, कपट, व्यभिचार आदि दोषों से कलङ्कित नहीं थीं। कृष्ण की इस समय ६ या ७ वर्ष की अवस्था थी। बालक बड़ा सुन्दर और समझदार था। इसकी तरफ सभी का प्रेम था। जैसे कृष्ण से गोप प्रेम रखते थे वैसे गोपियां भी रखती थीं। जब कोई सुन्दर बालक होता है तो सभी का चित्त उसकी तरफ आकृष्ट होता है। यह अस्वाभाविक बात नहीं है। यदि गोपियां कृष्ण को, जो एक ऐसा सुन्दर और होनहार लड़का था, देखकर प्रसन्न होती थीं और उस के साथ खेलती थीं, तो इस में आश्चर्य क्या है। यह स्वाभाविक बात है। आक्षेप करनेवाले इस बात को छोड़ देते हैं कि ब्रज के सब लड़के अथवा गोपभी दिन भर कृष्ण के साथ रहते थे और उन का साथ कभी नहीं छोड़ते थे। दिनभर श्रीकृष्ण वन में गौ चराते थे। सब गोप उनके साथ होते थे और वन स्थानों में अनेक प्रकार के खेल गोपोंके साथ हुआ करते थे। स्त्री-पुरुष सभी कृष्ण से स्नेह करते थे। क्या यह बात अब नहीं है कि जब कोई बड़ा सुन्दर और समझदार बालक होता है, तो क्या स्त्रियां और क्या पुरुष सभी उनके साथ खेलते हैं? मा बाप भाई बहिन सभी, किसी अवस्था के क्यों न हों, छोटे बालक के साथ खेलने में बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। राजा महाराजाओं को अपने छोटे बालकों के साथ खेलते बहुतों ने देखा है।

कृष्ण का गोपियों के साथ खेलना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है विशेषतः उस समय जब कि हिन्दूजाति में कहीं भी परदे की प्रथा नहीं थी, और कृष्ण की सात वर्ष की अवस्था थी।

अथ रासलीला पर विचार करिये । जिस समय का हाल लिख रहे हैं उस समय में वेश्याओं का नाच तो थाही नहीं । यह असभ्य और घृणित रीति तो उसी समय से पाई जाती है जबसे मुसलमानों का प्रवेश इस देश में हुआ है । प्राचीन हिन्दू-समाज में स्त्री पुरुषों में परस्पर संसर्ग रहता था और नृत्य-संगीतादि विषयों में भी स्त्रियां, पुरुषों के बराबर रहती थीं ।

सर्वसाधारण को ज्ञात है कि पाश्चात्य देशों में, जो आज सभ्यता में अग्रगण्यनीय है, स्त्री पुरुषों में, परस्पर गाने बजाने नाचने का प्रचार है । इसे कोई सभ्य आदमी बुरा नहीं कहता है । सब में बड़ी खुशीका उत्सव नाच का है । नाच से यह अभिप्राय नहीं कि किसी दुराचारिणी पतितस्त्री अर्थात् वेश्या को बुलाकर नाच दिखाया जाय, वलिकि यह कि सब बड़े सज्जन, और सदाचारिणी स्त्रियां, आपस में मिलकर नृत्य करें । अंगरेजी शिक्षित पुरुषों को तो अंगरेजी नाच जिसे 'Ball' कहते हैं अच्छी तरह से मात्ूम है । कोई मनुष्य अंगरेजों को असभ्य और दुराचारी नहीं कहता क्योंकि इनमें स्त्री-पुरुष इकट्ठे होकर नाचते हैं । आश्चर्य है कि इस देशमें, जो इस समय योरुप की सभ्यता के कहीं पीछे हैं, श्री कृष्ण को, जिन्होंने गोपियों के साथ इस तरह नाच किया था, बड़ा दोष लगाया जाता है और उनके आचरणों पर आक्षेप किया जाता है । जब यह ख्याल किया जाय कि अंगरेजी सुशिक्षित पुरुष, जो पाश्चात्य देशों के 'Ball System' अर्थात् नाच-प्रथा की प्रशंसा करते हैं और श्रीकृष्ण के नाच-विधान की निन्दा करते हैं, तो आश्चर्य की सीमा और भी बढ़ जाती है । इनके विचार में यह परस्पर-विरुद्धता कैसी !

यथार्थ में बात यह है कि श्रीकृष्ण भगवान एक बड़े समाज-सुधारक थे । ऊपर चीरहरणलीला के प्रसङ्ग में कह आये हैं कि एक प्राचीन कुरीति को उन्होंने किस चतुरता और बुद्धिमत्ता से दूर किया है । इसी

सामाजिक सुधार की दृष्टि से देखा जाय, तो मालूम होगा कि योरुप में सभ्यता फैलने के सहस्रां वर्ष पहिले ये कृष्ण भगवान् ही थे जिन्होंने Ball अर्थात् नृत्य की प्रथा निकाली—वह प्रथा जो इस समय समस्त सभ्य भूमण्डल में बड़े सम्मान के साथ प्रचलित है । आज कल हिन्दू जाति के अच्छे २ विद्वानों को कहते और लिखते देखा है कि आधुनिक सभ्यता के सभी बड़े २ आविष्कार जो दृष्टिगोचर होते हैं पहिले इस देशमें भी मालूम थे और उनके प्रमाण हिन्दू शास्त्रों में भी पाये जाते हैं ; जैसे व्योमयान तार, बिना तारका तार । एतद्देशीय बड़े अभिमानसे कहते हैं कि व्योमयान इस देशमें बहुत पुराने हैं । योग विद्यासे दूरकी खबर जल्दी मिल जाती थी । गुटकों के द्वारा दूर २ आदमी आकाश के मार्ग से चले जाते थे । यदि इन सब बातों के कहने में इस देशका प्रभाव और गौरव प्रकट होता है, तो एक ऐसे विषय में, जिसमें यथार्थ ही इस देश का गौरव ज्ञात होता है, क्यों भूल दिखाई जावे ? यह बात हम लोगों को बड़े अभिमान से कहना चाहिये कि ये हमारे कृष्ण चन्द्र जी थे जिन्होंने नाच की प्रथा निकाली है और जो प्रथा आज सभी सभ्य देशों में प्रचलित है । सामाजिक दृष्टि से रासलीला के द्वारा श्रीकृष्ण जी बहुत बड़ा काम कर गये । स्त्री-पुरुषों के परस्पर मनोरञ्जन की वह रीति निकाल गये जिसके प्रचार करने से सब सभ्य देशों में वेश्यानृत्य का प्रवेश भी नहीं होने पाया । इस देशमें, जहाँ हमारे परम पूजनीय कृष्ण ने यह प्रथा निकाली, उस के अभाव से घर २ वेश्यानृत्य होने लगा और सामाजिक निर्मल आनन्द का लेश भी नहीं रहा । इस देश के निरक्षर मनुष्य तो भगवान् श्री कृष्ण की रासलीला पर उपहास करते रहे अथवा उसे खेल समझते रहे, पश्चिम देश के सभ्य स्त्री-पुरुष उस का गूढ आशय समझ कर प्रचार में ले आये । परिणाम क्या हुआ ? यहाँ, तो वेश्यापं नाच करने लगीं और सामाजिक चरित्र धरातल को जाने लगा और वहाँ वेश्याओं का नाम-निशान न रहा, और नर-नारी सभी को आनन्द और मनोरञ्जन का उपाय मिला ।

यह बात समझ में नहीं आती कि श्रीकृष्ण के रास करनेसे उनमें क्या दोष भागया और क्या धर्म में धक्का लग गया। यह इसी देशकी कहावत है, “साहित्यसङ्गीतकला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविपाणहीनः।” अर्थात् जो मनुष्य या स्त्री साहित्य सङ्गीत और ऐसी ऐसी कलाओं को नहीं जानता या जानती है वह बिना पूँछका पशु है। साहित्य-सङ्गीत विचार से रासलीला एक अद्भुत चीज़ है। इसकी तुलना और किसी चीज़ से नहीं हो सकती। साहित्य, सङ्गीत और नृत्य के श्री कृष्ण धुरन्धर आचार्य गिने जाते हैं। इसका गौरव वेही समझ सकते हैं जिनका इन विषयों से परिचय है। सर्व साधारण की समझ से यह विषय परे है।

यह भी इस स्थान पर लिख देना आवश्यक है कि जिस समय कृष्ण ने रासलीला की है, उनकी अवस्था ७ या ८ वर्ष की थी अर्थात् विषयभोग के योग्य अवस्था नहीं थी। दूसरी बात यह है कि रासलीला में कहीं विषय-भोग का उल्लेख नहीं है। नृत्य और तत्सम्बन्धिनी ऋद्धियों का वर्णन ही है। तीसरे यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यह रासलीला गोपियों की अति दीन प्रार्थना पर की गई थी। बहुत दिनोंसे प्रार्थना थी। श्रीकृष्ण ने इनके मन शुद्ध करने के लिये कई मास तक कात्यायन व्रत इनसे करवाया। रासपंचाध्यायी के पढ़ने से ज्ञात होगा कि जो कुछ कृष्ण ने किया है उसमें दुषित बात नहीं है। उपहास और आक्षेप करने को तो अनसमझ आदमी पवित्र से पवित्र वस्तुओं में दोष लगा सकते हैं। दुग्ध कैसा सुन्दर और बलदायक पदार्थ है, परन्तु आजकल के पढ़े लिखे उसमें भी दोष लगाते हैं और यह कह कर कि इससे मैदा विगड़ जाता है, उसका सेवन छोड़ देते हैं ! इस विषय में भी देखो। कृष्ण भगवान् ने क्या भोजन-सम्बन्धी सुधार कर दिखाया है। दुग्ध, दही, माखन, इन्हींका भोजन उन्होंने श्रेष्ठ माना है। मद मांसका भोजन, जो पहले से चला आता था, उन्होंने सर्वथा त्याग किया है।

अब इस रासलीला को अर्ध्यात्मदृष्टि से देखो । चीर हरण लीला के प्रसङ्ग में कह आये हैं कि गोपियां अपने को परमभक्त समझती थी, परन्तु जब कृष्ण ने इनकी परीक्षा ली, तो इन्हें पूरा नहीं पाया । उन्हें भक्त होने का जो अभिमान था उसे तोड़ दिया । गोपियों ने भी इस बातका मान लिया । अपनी भक्ति बढ़ाने लगीं; बढ़ाते २ पूर्ण अवस्था पर पहुच गईं । इस अवस्था की भी श्रीकृष्ण ने परीक्षा की और यह परीक्षा रासलीला में थी । रासलीला में भी जब श्रीकृष्ण ने इनमें अभिमान का लेश वाक्की देखा, तो फिर भौंका दिया, और जब ये अपने को पूर्ण समझ गईं तब कृष्ण इनसे मिले । गोपियां भक्ति की आदर्श नायिका हैं । इनसे बढ़कर भक्ति करनेवाला कोई नहीं हुआ है । नारदसूत्रों में भी सबसे बड़ा उदाहरण गोपियों की भक्ति का ही दिया है । भक्ति पूर्ण होने से परिणाम यह हुआ कि जीव और परमेश्वर एक हो गये । जीव परमेश्वर में तन्मयता हो गई । जैसे नृत्य में एक चित्त हो जाता, वैसे ही जीव, परमेश्वर में रमण करने लगता है । रासलीला क्या है ? जीवोंका ईश्वर के साथ एकभाव होकर रमण करना है । यह अवस्था भक्ति से ही होती है । गोपियों को भक्ति से यह आनंद प्राप्त हुआ ।

अब तीसरा अर्थ लीजिये । जब कोई बहुत तेजस्वी महात्मा होता है, तो एक वार कामदेव उसकी अवश्य परीक्षा लेता है, और यदि इस परीक्षा में वह पूरा उत्तर जाता है, तो उसका बड़ा गौरव होता है । इस तरह श्रीकृष्ण भगवान् की परीक्षा भी हुई । भगवान् जान गये । कामदेव के मन में किसी तरह की शंका न रह जाय, इस लिए सब सामग्री इकट्ठी की जिससे काम का पूरा उद्वेग हो सके । शरद पूर्णिमा की रात्रि, अनेक यौवना स्त्रियां, यमुनातट के रम्यस्थल, मधुर वंसी का सङ्गीत, रासलीला का व्यवहार, यह सब सामग्री कामदेव की सहायक थीं । श्रीकृष्ण भगवान् इस सब के रहते कामदेव के वश में नहीं हुए ।

गापियों के साथ नृत्य भी किया, क्रीड़ाएँ भी कीं, परन्तु किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं किया। कामदेव को द्वार माननी पड़ी, और वह लज्जित होकर श्रीकृष्ण भगवान् की शरण आया। इस सब का अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्णचन्द्र ने रासलीला के द्वारा कामदेव का मान खंडन किया है। रासलीला श्रीकृष्ण के अटल योगी होने के प्रमाण में हैं, न कि उनके व्यभिचार के प्रमाण में।

कालिदमन ।

श्रीकृष्ण ने कालिनाग को जो वृन्दावन के निकट यमुना में रहता था और जल को विषमय करता था, अपने वश कर निकाल दिया। इस बात को अर्वाचीन मनुष्य एक कपोलकल्पित घटना समझते हैं और कहते हैं कि यह बात असम्भव है और पुजारियों ने कृष्ण की महिमा बढ़ाने के लिए पुस्तकों में लिख दी है।

अब बुद्धि से विचार करिये कि यह बात सम्भव है या नहीं। सभी मनुष्य जानते हैं कि सपेरे पुंगी गजाकर सर्पों को वश में कर लेते हैं। बड़े बड़े जहरीले सर्प सङ्गीत के प्रभाव में आफर छोटे २ मनुष्यों के वशीभूत हो जाते हैं। कृष्ण भगवान् बांसुरी बजाने में बड़े प्रवीण थे और नर नारी पशु पक्षी आदि सभी वंशी की धुनि सुनकर मोहित हो जाते थे। नागदमनलीला श्रीकृष्ण की सङ्गीतनिपुणता के उदाहरण में है। इस से यह प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण सङ्गीत विषय में ऐसे कुशल थे कि बड़े से बड़े अज्ञदृष्टों को अपनी वंशी की धुनि से वश में कर लेते थे। जो सङ्गीत विद्या से परिचय रखते हैं वे जानते हैं कि श्रीकृष्ण सङ्गीत के एक धुरन्धर आचार्य हैं और उनके मतानुसार ही सङ्गीत का विधान है। यदि श्रीकृष्ण भगवान् न होते तो भारतवर्ष का सङ्गीत भी ऐसा गौरवशाली नहीं होता। कुछ नायक और गवैयों की प्रशंसा में कहा जाता है कि जब वे मलार गाते थे तो आकाश

से वर्षा होने लगती थी। दीपक राग गाने से दिन में दीपक जल उठते थे। इसीतरह श्रीकृष्ण के वंशीवजाने की निपुणता के उदाहरण में कालिदमन लीला है। यदि तानसेन के गाने से वर्षा हो जाती थी, और लोगों का इस में पूर्ण विश्वास है, तो क्या श्रीकृष्ण जिन्हें परमेश्वर मानते हैं ऐसे भी संगीतकुशल नहीं थे कि वंशी बजा कर एक सर्प को वश में कर लें ? इस लिए इस विषय में शंका करना वृथा है।

गिरिधारणलीला ।

श्रीकृष्ण भगवान् ने एक समय वृन्दावनवासियों को मेघ वृष्टि से बचाने के लिए एक पर्वत को अपनी अंगुली पर उठा लिया था। इस विषय में भी लोगों को बड़ा संदेह है, परन्तु जो विज्ञानशास्त्र से परिचय रखते हैं उन्हें यह बात कभी असम्भव नहीं मालूम हो सकती। यह दूसरी बात है कि यह मनुष्य यह कर सकता है या नहीं परन्तु यह असम्भव नहीं है। आपने देखाहोगा कि नट लोग एक वांस को ज़मीन में गाड़ कर उस पर तरह तरह की कलाएँ करते हैं। आपको यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि जब आप किसी लकड़ी को बीच में से उठाते हैं और दोनों तरफ़ का एकसा भार हो जाता है, तो वह लकड़ी आपकी अंगुली पर ढेड़ी रहती है। साधन करने से वांस को अंगुली पर खड़ा करते हैं। यह क्या बात है। विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि जब किसी वस्तु की आकर्षणशक्ति का केन्द्रस्थान मालूम हो जाता है, तो वह वस्तु कितनी ही भारी क्यों न हो थोड़े बल से उठ सकती है। अंगरेज़ी में इस आकर्षणशक्ति केन्द्र को स्पेसिफिक ग्रेविटी (Specific gravity) कहते हैं। जब स्पेसिफिक ग्रेविटी मालूम हो गई तो कैसा भारी भी पदार्थ क्यों न हो आसानी से उठ सकता है। सरकस तमाशों में देखा जाता है कि इस शक्ति को जानने और साधन करने पर नट कैसे कैसे अद्भुत खेल करते हैं। तनी हुई रस्सी पर

कुर्सी के चार पायों में से एक पाये को धर कर कुर्सी पर बैठ जाते हैं, खड़े हो जाते हैं । इस तरह होठ पर बांस को खड़ा कर उसके ऊपर लडकों को कला करने देते हैं । यदि आप चाहो तो स्वयं भी एक बांस या बल्ली को अँगुली पर खड़ा कर सकते हो । यह केवल आकर्षण-शक्ति को जानना और उसका साधन करना है । पत्थर का भारी टुकड़ा अँगुली पर खड़ा हो सकता है । उस टुकड़े की आकर्षणशक्ति का केन्द्र मालूम होना चाहिये और इसका साधन भी आवश्यक है । इस नियम से मालूम होगा कि कृष्ण का पर्वत उठा लेना केवल आकर्षणशक्ति के ज्ञान और साधन द्वारा ही थी । इससे कृष्ण की वैज्ञानिक निपुणता का गौरव ज्ञात होता है । जो नट एक भारी बांस को अँगुली पर उठा कर लेता है वह बड़ा चतुर समझा जाता है और लोग उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं । जब श्रीकृष्ण ने गिरि को अँगुली पर उठा लिया तो उनकी कितनी कलाकुशलता प्रगट हुई । दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि श्रीकृष्ण वैज्ञानिक शास्त्र के पारदर्शी थे, नट विद्या के धुरन्धर आचार्य थे । हिन्दू जाति को इस बात का अभिमान होना चाहिये कि उनके श्रीकृष्ण ऐसे विद्वान-शास्त्रवेत्ता थे । आकर्षणशक्तिज्ञान का उदाहरण श्रीगणेश के वाहन से भी प्रकट होता है । गणेश जी कितने भारी और स्थूल थे और उन का वाहन कैसा छोटा और निर्बल जीव है । क्या एक मूपक सामान्यरीति से गणेशजी का भार सम्हाल सकता था, कदापि नहीं । परन्तु गणेशजी तो गणितविद्या के आचार्य थे, इसी से इन का नाम गणेश है और सब देवताओं के पहले पूजे जाते हैं । इन्हें अपने शरीर की आकर्षणशक्ति का केन्द्रस्थान मालूम था । उसी को लक्ष्य कर मूपक पर सवार होते थे । यह वाहन इसीलिए रखा गया था कि दूसरे देवता उनकी गणितविद्या की निपुणता का चमत्कार सदैव देखते रहें । हिन्दू देवताओं में ऐसे कई उदाहरण मिलेंगे जिन्हें यथार्थज्ञान न होने के कारण हम उपहासदृष्टि से देखते हैं ।

इस लेख में श्रीकृष्ण की चार लीलाओं की व्याख्या की गई है, अर्थात् वीरहरण, रासलीला, कालिनागदमन और गिरिधारण लीला।

विचार करने से मालूम होगा कि इन लीलाओं के करने में कृष्ण का स्वार्थ कुछ भी न था। सब लीलाएं परोपकार के लिए ही की गई थीं।

पहली लीला एक कुरीतिवन्द करने को, दूसरी गोपियों को भक्ति का फल देने को अथवा उनकी अभिलाषा पूर्ण करने को, तीसरी वृन्दावनवासियों की जान बचाने को और चौथी इन लोगों की रक्षा भेषवृष्टि से करने को। कोई चरित्र श्रीकृष्ण का ऐसा नहीं है जिसमें उनका स्वार्थ पाया जाता हो। जन्मभर दूसरों के हित को ही मुख्य समझ कर वे काम करते रहे हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र का ऐसा अद्भुत चरित्र है कि सर्वसाधारण की समझ में नहीं आसकता है।

संक्षेपतः यह भी लिखा जाता है कि इनके चरित्र से किस किस बात का ज्ञान होता है।

पूर्वोक्त विषयों से यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रीकृष्ण सामाजिक सुधारक, संगीतसाहित्यविद्या के पारंगत आचार्य और विज्ञानशास्त्र के धुरन्धरवेत्ता थे। उनमें विविध प्रकार की योग्यताएं थीं, उनमें से ये कतिपय हैं। वे बड़े वीर और पराक्रमी थे। कंसकेशी आदि राजसों के मारने से यह योग्यता स्पष्ट है। वे बड़े नीतिज्ञ थे। यह महाभारत को देखने से विदित होता है जिस प्रकार द्वारकापुरी उन्हीं ने बसाई और अपने वंश की उन्नति की उस से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण शासन प्रबन्ध में अद्वितीय थे। मित्रता जो अर्जुन और पांडवों के साथ उन्होंने प्रकट की थी और जिसके कारण उनका सदैव उपकार होता रहा था इस बात की द्योतक है कि श्रीकृष्ण बड़े सच्चे और हितैषी मित्र थे। जब महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हुआ है तो कौरव पांडव दोनों से गाढ़ संस्वन्ध रखने के कारण श्रीकृष्ण ने युद्ध में लड़ने से शपथ लेली थी

श्रीरुद्र में दोनों से मित्रभाव रखना था इस से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण कैसे मित्रभाव रखने वाले थे। श्रीकृष्ण ने क्षत्रिय होने परभी कभी मांस भोजन अथवा मदिरा पान नहीं किया; दूध, दही, माखन को ही काम में लाए। इस से मालूम होता है कि भोजन विषय के भी वह एक बड़े सुधारक थे। उनके समय से ही इस देश के निवासियों ने मांस भोजन त्याग दिया है। धर्म और आचार में जो मर्यादाएँ चली आती थीं उनके ही अनुसार श्रीकृष्ण का आचरण रहा है। इस से यह प्रकट होता है कि वह धर्म विषय में किसी पक्ष का खंडन मंडन नहीं पसन्द करते थे और सनातन धर्म का हार्दिक श्रद्धा से पालन करते थे। सत्य का पालन और असत्य का त्याग, उनका मुख्य उद्देश्य था। जीवन पर्यन्त उनका यही नियम रहा। जब यादवों को असत्य मार्ग में जाते देखा तो सत्य स्थापन के लिए उनका नाश हाने दिया। पक्षपात और माया मोह को उन्होंने नें छोड़ दिया। निर्बल, अनाथ और दुःखियों के वे सर्वदा सहायक थे। श्रीकृष्ण का सब जीवन चरित्र इस बात की घोषणा दे रहा है। जो कुछ श्रीकृष्ण ने किया परोपकार के लिए किया, कभी कुछ स्वार्थ के वश होकर नहीं किया। कोई उदाहरण कृष्ण के चरित्र में पेशा नहीं है जिस से उनके कामों में स्वार्थ प्रकट होता हो। श्रीकृष्ण के निष्कलंकित और पवित्र जीवन का उस शपथ से पता लगता है जो उन्होंने अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के मृत पुत्र को पुनर्जीवित करने के समय ली थी। इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने अपने योग वा ऐश्वरीय प्रभाव का कुछ अवलम्बन नहीं लिया, बल्कि शपथ में अपनी पवित्र और शुद्ध जीवनी का ही हवाला दिया है। इस शपथ के शब्दों से श्रीकृष्ण के यथार्थ जीवन का पता लगता है। ऊपर जिन २ विषयों पर विचार कर आये हैं उनसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण एक बंधुत उच्चश्रेणी के आदर्श पुरुष थे, परन्तु जब गीता के उपदेशों पर ध्यान दिया जाता है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर के अवतार थे। संसार की सब पुस्तकों में गीता अद्वितीय

है। जो इस उपदेश का करने वाला है वह मनुष्य नहीं हो सकता है। संसार के सर्व धर्म प्रचार करने वाले ईश्वर के निकट पहुँचने का मार्ग ही बताते रहे हैं, किसी ने परमेश्वर को दिखा नहीं दिया है। यह श्रीकृष्ण का प्रभाव ही था कि जब अर्जुन ने परमेश्वर का रूप देखना चाहा तो उसकी वह इच्छा भी पूरी कर दी। क्या कोई संसार के बड़े से बड़े महात्मा, नबी, पैगम्बरों में ऐसा कोई हुआ है जिसने परमेश्वर को साक्षात् करके दिखा दिया हो। सिवा श्रीकृष्ण के और किसी ने ऐसा नहीं किया है। गीता में जो जो धर्मोपदेश हैं उनकी तुलना तो संसार के किसी उपदेश और विद्या से करना बृथा है क्योंकि वे अद्वितीय हैं। यदि श्रीकृष्ण का ऐसा कलंकित चरित्र होता तो क्या वे गीता सुनाते, कदापि नहीं। हे भारतवासियों बृथा वितन्डावाद छोड़ कर श्रीकृष्ण के चरित्र और उपदेश से लाभ उठाओ ! इसके बिना तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता है।



भगवद्गीता कब बनी ।

भगवद्गीता कब बनी, इस विषय में बहुत मतभेद हैं। प्राचीन ग्रन्थ कर्त्ताओं ने बहुधा ग्रन्थ रचने का समय नहीं लिखा। किसी किसी ने तो अपना नाम तक नहीं बताया। अतएव गीता-रचना का ठीक समय निश्चय करना अति कठिन है। तथापि कुछ ऐसे प्रमाण और घटनायें हैं जिनके आधार पर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं। विद्वानों ने जो सम्मतियाँ, इस विषय में, दी हैं उनका उल्लेख, यहाँ पर, थोड़े में करना आवश्यक मालूम होता है।

प्रोफेसर टी० आर० अमलनेरकर ने गीता के निम्नलिखित श्लोक से निश्चय किया है कि वादरायण-कृत वेदान्त सूत्रों के पश्चात् गीता रची गई है:—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं कृन्दोभिर्विधिभिः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

इस श्लोक में ब्रह्मसूत्र-पद से मतलब वेदान्त-सूत्रों से है, और वेदान्त-सूत्रों के दूसरे अध्याय में बौद्ध और जैन धर्म का विचार है। अतएव वेदान्त-सूत्र बौद्ध मत के पीछे रचे गये और गीता उनके भी पीछे बनी। यदि ब्रह्मसूत्र गीता के पहले न रचे गये होते तो ब्रह्मसूत्रों का नाम गीता के इस श्लोक में न दिया जाता।

प्रोफेसर मोक्षमूलर की भी यही सम्मति है। यदि ये अनुमान ठीक माने जाय तो गीता बनने का समय ईसाके कई शताब्दी पीछे ठहरता है।

एतद्देशीय विद्वान्, जैसे माननीय तैलंग आदि, इस सम्मति के विरुद्ध हैं। वे श्रीमच्छङ्कराचार्य के गीता-भाष्य के अनुसार इस श्लोक का अर्थ लगाते हैं। ब्रह्मसूत्र-पद से वे वादरायण-कृत वेदान्त-सूत्रों का आशय नहीं स्वीकार करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र से मतलब ब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों से है। वेदान्त-सूत्रों में इन सूत्रों का नाम ब्रह्मसूत्र कहीं नहीं। न शंकराचार्यजी ने ही इनको ब्रह्मसूत्र के नाम से

उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान वेदान्त-सूत्र कोई और पुराने सूत्रों की आवृत्ति है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता में बौद्ध मत के सम्बन्ध में कुछ श्लोक हैं। अतएव गीता गौतम बुद्ध के पीढ़े रची गई है। ये श्लोक गीता के सोलह वें अध्याय में ७ से १८ तक हैं। इनमें आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों का वर्णन है। इस विषय में प्रोफेसर मोक्षमूलर ने कोई सम्मति नहीं प्रकाशित की। परन्तु प्रोफेसर अमलनेरकर और प्रोफेसर विल्सन ने लिखा है कि असुरों के वर्णन का सम्बन्ध बौद्ध-मतावलम्बियों से है।

श्रीयुत तैलङ्गा इस सम्मति के भी सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि यह वर्णन चार्वाकों का है, बौद्धों का नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चार्वाक बौद्धों से बहुत पहले के हैं। हमारे ग्रन्थों में इनका बहुधा वर्णन है। चार्वाकों के गुरु बृहस्पतिजी ने एक सूत्र-बद्ध पुस्तक लिखी थी, जो अब नहीं मिलती। परन्तु और ग्रन्थों से इस पुस्तक का होना पाया जाता है। माधवाचार्य-कृत सर्व-दर्शन संग्रह में भी चार्वाकों का उल्लेख है।

भगवद्गीता उपनिषदों के सिद्धान्तों से भरी हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी रचना का समय उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों की रचना के समय के बीच का है। पर उसमें जो सिद्धान्त हैं उनसे सूचित होता है कि वह बौद्ध मत के आविर्भाव के पहले की है और यह समय ईसा के पूर्व षठी शताब्दी है।

गीता के दूसरे अध्याय के पैंतालीसवें श्लोक में 'निर्द्वन्द्व' शब्द है। इससे विदित होता है कि गीता पाणिनि से पहले की है, क्योंकि द्वन्द्व समास का प्रचार पाणिनि-सूत्रों से पहले का है। पाणिनि ही इस समास के उद्भावक नहीं। वह उनके भी पहले से चला आता है। उन्होंने उसे स्वीकार मात्र कर लिया है।

पश्चिमी विद्वानों ने हमारे प्राचीन साहित्य की रचना के काल को कई भागों में बांटा है उनके अनुसार पहला काल मन्त्र-रचना का है। उसी समय वेद-मन्त्रों की सृष्टि हुई। इस काल के उन्होंने दो विभाग किये हैं। पहला वह समय जब ऋग्वेद बना, दूसरा वह जब साम, यजुः, और अथर्व-वेद की रचना हुई। प्रोफ़ेसर मेकडोनल इस समय को ईसा के पूर्व २००० से १००० वर्ष तक बताते हैं। दत्त महाशय की भी यही सम्मति है।

दूसरा काल उपनिषदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना का है, जो ईसा के पूर्व १००० से ५०० वर्ष तक बताया जाता है।

तीसरा काल सूत्र-ग्रन्थ-रचना का है, जो ईसा के पूर्व ५०० वर्ष से २०० वर्ष तक है।

चौथा काल धर्म-शास्त्रों की रचना का है, जो ईसा के २०० वर्ष पहले से ५०० वर्ष पीछेका है।

अब यह निश्चय करना है कि इन समय-विभागों में से किस समय विभाग में महाभारत की रचना हुई, क्योंकि गीता उसीका अंश है। पर, इसका निर्णय करना सहज नहीं, क्योंकि महाभारत की रचना एक ही समय में नहीं हुई। उसके रचने वालों की संख्या भी एक से अधिक है। खैर, महाभारत किसी समय में क्यों न बना हो, वेदों से सिद्ध है कि कुरु-पाल्वाज-युद्ध ईसा के १२ या १३ शताब्दी पहले हुआ था।

महाभारत के आदि-पर्व में लिखा है कि जब शौनकादि ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ कर रहे थे उस समय उग्रश्रवा ऋषि वहां आकर उपस्थित हुए। शौनकादिक की प्रार्थना पर उन्होंने महाभारत की कथा वर्णन की। उग्रश्रवा ने महाभारत की कथा वैशम्पायन से सुनी थी और वैशम्पायन ने व्यास से। वैशम्पायन का कथन है कि व्यास ने अपने चार शिष्यों और पुत्र शुक को यह कथा सुनाई थी। उनमें से प्रत्येक ने महाभारत को प्रकाशित किया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो असली

महाभारत व्यासजी ने कथन किया था वह यह नहीं है। वह इन शिष्यों में से किसी एक का कथन किया हुआ है। परन्तु है यह व्यासजी के असली महाभारत के आधार पर।

पश्चिमी विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बड़ी खोज की है और इसे बड़े ध्यान से पढ़ा है। वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ की चार आवृत्तियाँ हुई हैं। यथा—

(१) आदि-पर्व में लिखा है कि महाभारत में ८८०० ऐसे श्लोक हैं जिनका अर्थ व्यास और शुकदेवजी को छोड़ कर और कोई नहीं जानता। संज्ञय शायद जानते हों तो जानते हों। इससे योरप के विद्वानों ने यह तात्पर्य निकाला है कि पहले इस ग्रन्थ में केवल ८८०० श्लोक थे, जो ईसा के ५०० वर्ष पहले रचे गये थे। गृह्य-सूत्रों से भी इतनी ही श्लोक-संख्या का पता लगता है।

(२) आदि-पर्व में यह भी लिखा है कि जो भारतसंहिता व्यासजी ने रची थी उसमें २४००० श्लोक थे और गीता उनमें शामिल थी। इस दूसरी आवृत्ति में शिव, विष्णु, कृष्ण आदि का स्थान ब्रह्मा के समकक्ष माना गया है। प्राचीन समय में ब्रह्माजी ही सबसे बड़े देवता समझे जाते थे। इसलिये इसके रचे जाने का समय ईसा के तीन सौ वर्ष पहले का है। इस अनुमान का यह भी कारण है कि यूनान देश के विद्वानों ने, विशेष कर मेगास्थनीज़ ने, इन देवताओं के पूजे जाने का हाल लिखा है।

(३) महाभारत के दूसरे पर्व में श्लोकों की संख्या ८४,८३७ बताई गई है। इस कारण यह तीसरी आवृत्ति हुई।

(४) इस समय हरिवंश-पुराण सहित महाभारत में १,०७,३६० श्लोक हैं। अतएव यह चौथी आवृत्ति हुई।

तीसरी और चौथी आवृत्तियों का समय ईसा से २०० वर्ष पहले से ५०० वर्ष पीछे तक माना गया है। ईसा के ४५०-५०० वर्ष पीछे के

जो दानपत्र मिले हैं उनसे पाया जाता है कि महाभारत की चौथी, अर्थात् अन्तिम आवृत्ति, ईसा के ४०० वर्ष पीछे बनी थी ।

एल के विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ई० ए० होपकिन साहब, जिन्होंने महाभारत का सम्पादन किया है, इन आवृत्तियों का निम्न-लिखित समय बताते हैं—

पहली आवृत्ति ईसा के ४०० वर्ष पूर्व बनी । इस आवृत्ति में केवल मन्त्र थे ।

दूसरी आवृत्ति में पाण्डवों के वीर-चरित्रों का वर्णन था । पर और २ कथाएँ भी सम्मिलित थीं । उसमें कृष्ण देवतारूप में माने गये थे । यह आवृत्ति ईसा के ४००-२०० वर्ष पूर्व बनी थी ।

तीसरी आवृत्ति ईसा के पूर्व २०० वर्ष से उनके बाद १०० या २०० वर्ष पीछे तक बनी । इसमें कृष्ण पूर्णरूप से ईश्वर माने गये और अनेक धर्म-विषयों का वर्णन किया गया । इसमें बहुतसी पौराणिक कथाएँ भी सम्मिलित की गईं ।

चौथी आवृत्ति ईसा के पूर्व २०० वर्ष से उनके बाद ४०० वर्ष तक बनी । इस में वर्तमान सभी पर्व शामिल हुए और पहले पर्व की भूमिका भी लिखी गई । होपकिन साहब की सम्मति में समग्र महाभारत ईसा के २०० वर्ष पीछे बन चुका था ।

इन आवृत्तियों में से सबसे पीछे की आवृत्ति में गीता का सम्मिलित होना अनुमान किया जाता है । इसकी रचना धर्म-शास्त्रों से पहले की नहीं । और, धर्म-शास्त्र रचना का समय ईसा के २०० वर्ष पहले से आरम्भ हुआ है ।

गीता का समय निश्चय करने के लिए दो प्रकार के प्रमाण हैं— अभावात्मक और भावात्मक । अभावात्मक प्रमाण यह है कि पूर्वोक्त चार प्रकार के ग्रन्थ-रचना-काल में गीता का पता नहीं लगता, अर्थात् मन्त्र; ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्र-ग्रन्थों के रचनाकाल में गीता नहीं बनी।

भावात्मक प्रमाण यह है कि चारों काल-विभागों के ग्रन्थों के आशय गीता में मिलते हैं। गीता में उन सभी ग्रन्थों की झलक दिखाई देती है। अतएव पूर्व-निर्दिष्ट अनुमानों का सारांश यह है कि धर्मशास्त्रों की रचना के समय के आरम्भ-काल से पूर्व की गीता नहीं, अर्थात् वह सन् ईसवी से कुछ पहले और कुछ पीछे की है। ईपिक इन्डिया नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीयुत सी० वी० वैद्य प० ए०, के मतानुसार वीर चरितात्मक ग्रन्थों की रचना ईसा से ३०००—३०० वर्ष पहले की है। क्योंकि महाभारत का युद्ध ईसा से ३१०१ वर्ष पहले हुआ था। असली महाभारत युद्ध के बहुत काल पीछे न बना होगा; पर अन्तिम आवृत्ति ईसा के २५० वर्ष पहले के लंगमग सूत जी के द्वारा तैयार हुई होगी। अर्थात् वह अशोक के पूर्व और मेगास्थनीज़ के पीछे बनी होगी।

भगवद्गीता के रचना-काल के विषय में वैद्य महाशय की यह सम्मति है कि महाभारत की अन्तिम आवृत्ति के समय की गीता नहीं। किन्तु वह सब से पहली आवृत्ति की है। प्रमाण में वे यह कहते हैं कि महाभारत के बहुत स्थलों में गीता का उल्लेख आदरपूर्वक किया गया है। गीता के श्लोक भी महाभारत में स्थान स्थान पर मिलते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वह एकही समय में रचा गया है। गीताके रचने वाले व्यासजी हों अथवा वैशम्पायन जी हों, पर वे बड़े विद्वान्। गीता बहुत पुरानी है। बुद्ध के जन्म से शताब्दियों पहले वह बन चुकी थी। अठारहों अभ्यायों का विषय-प्रवाह एकसा है। कहीं बिच्छेद-भाव नहीं। उसकी रचना सरल और सरस है। थोड़े में बहुत कुछ कह दिया गया है। गीता की रचना का समय उस की भाषा से भी अनुमित हो सकता है। गीता बोल-चाल की सरल संस्कृत में है। गीता में बौद्ध मत की कोई बात नहीं है।

परिचित सीतानाथ तत्त्व-भूषण की सम्मति है कि गीता ईसा के जन्म के कुछ पहले या पीछे बनी है।

जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं उन पर जो आक्षेप किये जा सकते हैं उनकी भी धानगी देख लीजिए। अभावान्तक प्रमाणों द्वारा यह कहा जाता है कि गीता के सिद्धान्त मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्र-समय के रचे हुए ग्रन्थों में नहीं हैं। सूत्र-ग्रन्थों का समय ईसा के पूर्व ५०० से २०० वर्ष तक बताया जाता है और कहा जाता है कि गीता उस समय के पीछे बनी होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या गीता में सूत्र-ग्रन्थों की बातें हैं? गीता में तो ऐसी कोई बात नहीं। अतएव इस से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि गीता इस समय के पहले बनी थी? इस में सन्देह नहीं कि गीता में मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-ग्रन्थों के सिद्धान्त पाये जाते हैं। परन्तु सूत्र-ग्रन्थों की कोई बात नहीं।

गीता में ऊँहों शास्त्रों के सिद्धान्त विद्यमान हैं। परन्तु ये सिद्धान्त वेदों और उपनिषदों के हैं। अतएव सब प्राचीन हैं—यह नहीं कि वे वर्तमान ऊँहों शास्त्रों से लिये गये हों। गीता में शास्त्रों के नाम नहीं। अतएव यह सिद्ध नहीं कि गीता ने इन ग्रन्थों से अपने सिद्धान्त लिये हैं। उपनिषदों के बहुत से श्लोक गीता में जैसे के तैसे पाये जाते हैं।

इन्हीं कारणों से गीता का बनना ईसा के ६०० वर्ष पहले सिद्ध होता है। क्योंकि ईसा के ५०० वर्ष पहले से सूत्रग्रन्थों का बनना प्रारम्भ हुआ था। परन्तु गीता उस के पहले ही बन चुकी थी। यह अनुमान खेंचातानी का फल नहीं। भारतवर्ष के बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति है कि गीता की रचना ईसा के ६०० वर्ष पहले हुई होगी। इस अनुमान को काटने वाले जब तक कोई और प्रबल प्रमाण न मिले तब तक इसी को ठीक मानना उचित होगा।

पूर्वोक्त अनुमानों के सिवा कुछ प्रमाण हाल में और भी मिले हैं जिनसे गीताके बनने का समय और भी पहले का मालूम होता है। जावा द्वीपमें एक महाभारत की पुस्तक मिली है। उसके भीषण पर्व में एक गीता प्रकरण है जिसमें गीता के सौ सवासौ श्लोक ज्यों के त्यों मिलते हैं।

इसका समय शकचार पांचसौ के पहले कमसे कम २०० वर्ष है और उसमें गीता विद्यमान है।

परलोक वासी त्रियम्बक गुरनाथ काले ने एक लेख 'वेदिक मेग ज़ीन' में दिया था। उसमें यह सिद्ध कियाथा कि आश्वलायन गृहसूत्रों में महाभारतका पृथक २ उल्लेख है, और बौधायन धर्मसूत्रोंमें एक स्थानपर महाभारतमें वर्णित ययाति उपारव्यान का एक श्लोक मिलता है। इसके सिवा बौधायन गृहसूत्रोंमें विष्णु सहस्र नाम भी पाया जाता है। बौधायन सन् ईसवी के ४०० वर्ष पहले हुआथा। यह निश्चय हो चुका है। जो गीताका श्लोक बौधायन गृहसूत्रोंमें पाया जाता है वह यह है:- (पत्रं पुष्पं फलम् तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ६ अ. २६)। इन प्रामाण्यों से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान गीता शक के लगभग ५०० वर्ष पहले मिलती थी। बौधायन और आश्वलायन सूत्रकार भी उसे जानते थे-महाशय तिलक जिनका गीतारहस्य हाल में प्रकाशित हुआ है लिखते हैं:-

इसमें कुछ भी शंका नहीं रह जाती कि वर्तमान भगवद्गीता शालिवाहन शकके लगभग ५०० वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी। डाक्टर भांडारकर, परलोकवासी तैलिङ्ग, रावबहादुर चिन्तामणिराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षित के मतभी इसीसे बहुत कुछ मिलते जुलते हैं, और इसी मत को यहाँ भी ग्राह्य मानना चाहिये। यह बात निर्विवाद है कि वर्तमान गीता का काल शालिवाहन शकके ५०० वर्ष पहले की अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता।

हमारे सनातनी परिदों के विचार से गीता, पूर्वोक्त समय से और भी पहले की है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अपने मुख से गीता का उपदेश अर्जुन को कुरुक्षेत्र में किया था। जितना समय महाभारत के युद्ध को हुआ उतनाही गीता को बने हुआ।

भगवद्गीता के सिवा और २ गीताएं ।

गीता एकही नहीं है, बल्कि कोई पुराण और प्राचीनधर्मसम्बन्धी पुस्तक नहीं जिस में एक या एक से अधिक गीताएं नहीं हों। अनेक गीताएं देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में ज्ञानसम्बन्धी विषयों को गीता के रूप में उपदेश करने की प्रथा पड़ गई थी। ये सब गीताएं ज्ञानविषय के अमूल्य रत्न हैं। इनमें से बहुतसी गीताएं तो भगवद्गीता के आधार पर ही लिखी गई हैं, बल्कि उसके बहुत से श्लोक उनमें अंशरशः मिलते हैं। उदाहरणतः—शिवगीता, ईश्वरगीता, देवीगीता, गणेशगीता आदि। कुछ गीताओं में केवल ज्ञान और सन्यास ही कहा है; जैसे अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, कपिलगीता आदि। अन्य कुछ गीताओं में भक्तिमार्ग ही प्रधान है; जैसे तीनों यम गीताओं में। ये सब गीताएं भगवद्गीता के पीछे की ही बनी मालूम होती हैं और उसी का अनुकरण करती दिखाई देती हैं।

कुछ गीताओं के और उन ग्रन्थों के नाम जिन में वे मिलती हैं :—

गीता	ग्रन्थ जिसके वह अन्तर गत है
१ ब्रह्मगीता १	योगवासिष्ठ
२ ब्रह्मगीता २	स्कन्दपुराण
३ रामगीता	अध्यात्मरामायण
४ व्यासगीता	कूर्मपुराण
५ सुतगीता	स्कन्दपुराण
६ यमगीता १	विष्णु पुराण
७ यमगीता २	अग्निपुराण
८ यमगीता ३	नृसिंहपुराण
९ शिवगीता	पद्म पुराण
१० देवीगीता	देवीभागवत

११ गणेशगीता	गणेशपुराण
१२ ईश्वरगीता	कूर्मपुराण
१३ हंसगीता	भागवतपुराण
१४ भिक्षुगीता	भागवतपुराण
१५ ब्राह्मणगीता	महाभारत
१६ अनुगीता	"
१७ पाराशरगीता	"
१८ बोध्यगीता	"
१९ दूरीतगीता	"
२० वृत्रगीता	"
२१ मेकिगीता	"
२२ शंयाकगीता	महाभारत
२३ पिंगलगीता	"
२४ विचव्युगीता	"
२५ अवधूतगीता	} स्वतंत्र रची हुई हैं
२६ अष्टावक्रगीता	
२७ कपिलगीता	कपिलोपाख्यान
२८ सूर्यगीता	} ये भी इसी तरह दूसरे ग्रन्थों से उद्धृत हैं।
२९ उत्तरगीता	
३० पांडवगीता	
३१ व्याधगीता	
३२ अर्जुनगीता	

हमने इन गीताओं में से, अवधूतगीता और ईश्वरगीता का अंगरेज़ी अनुवाद किया है जो अलग रूप रचा है। इन में से एक दो गीताओं के सिवा और किसी का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। यदि कोई महाशय इन सब गीताओं का हिन्दी अनुवाद कर प्रकाशित करें, तो बड़ा उपकार होगा। ये सभी गीताएँ पढ़ने योग्य हैं।

श्रीकृष्णका पवित्र संदेश ।

भगवद्गीता श्रीकृष्ण का पवित्र संदेश है । गीता महाभारत के भीष्म पर्वका एक अंश है । इसमें १८ अध्याय और ७०२ श्लोक हैं । गीताके अठारहों अध्यायोंकी विषयोपक्रमणिका इस प्रकार है:—

- अध्याय १—अर्जुन-विषादयोग
 " २—सांख्ययोग ।
 " ३—कर्मयोग ।
 " ४—ज्ञानविभागयोग ।
 " ५—संन्यासयोग ।
 " ६—आध्यात्मयोग ।
 " ७—ज्ञानयोग ।
 " ८—अक्षरब्रह्मयोग ।
 " ९—राजविद्याराजगुह्ययोग ।
 " १०—विभूतियोग ।
 " ११—विश्वरूपदर्शनयोग ।
 " १२—भक्तियोग ।
 " १३—क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग ।
 " १४—गुणत्रयविभागयोग ।
 " १५—पुरुषोत्तमयोग ।
 " १६—दैवासुरसम्पत्तिभागयोग ।
 " १७—अर्द्धात्रयविभागयोग ।
 " १८—संन्यासयोग ।

गीता सब उपनिषद्का सार है क्योंकि-सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थ—सब उपनिषद् गौ हैं। इस गौके दुहनेवाले श्रीकृष्ण भगवान हैं। अर्जुन गौ का वच्चा है। गीतामृतरूपी दूध है। ज्ञानवान् मनुष्य इस दूधका पीनेवाला है।

गीतामें सब धर्मपुस्तकोंके विचार पायेजाते हैं। तीनों वेदोंकी संहिता और उनके धर्मोपदेश, गीतामें विद्यमान हैं। १७ वें अध्यायके २३ वें श्लोक में वेदों के ब्राह्मणोंकी भक्तकह है। गीतामें उपनिषदोंके सिद्धान्त सर्वथा मिलते हैं। धर्म, नीति, आध्यात्मिक ज्ञान, साधनादिका विवरण जो गीता में है, उपनिषदोंके आधारपरही है। कठ और श्वेताश्वतरोपनिषत्के श्लोक कई स्थानोंपर, गीतामें जैसेके तैसेही पायेजाते हैं। उदाहरणतः गीता के ये स्थल देखिये :—

अध्याय	२	श्लोक	११, १२
"	३	"	४२
"	८	"	११
"	१३	"	१३, १४
"	१५	"	१

इनके अतिरिक्त गीताके निम्न लिखित श्लोक उपनिषदों में से ही लिये गए हैं:—

गीता	उपनिषत्
अध्याय २ श्लोक २९	कठ २-७
" २ " २०	" २-१६
" ८ " ११	" २-१५
" ८ " ६	श्वेताश्वतर ३-६-२०
" ६ " ११	" २-१०
" ६ " १३	" २-८
" ६ " २६	कैवल्य १-१०
" १५ " १५	" २-३
" २ " १६	} छान्दोग्योपनिषत् के गद्य वाक्यों का अनुवाद बृहदारण्यकोपनिषत्के गद्य वाक्यों का अनुवाद
" ८ " ६	
" १३ " १७	
" २ " १४	

श्रीकृष्णचन्द्रजा का अर्जुन के रथको चलाना, कठोपनिषत् के प्रथम अध्याय की तीसरी बल्ली के भावाधार पर है। परमात्मा की जगह श्रीकृष्ण और आत्मा की जगह अर्जुन धरदिये गये हैं।

गीता के दूसरे अध्याय में आत्मा, घ्राटवें में अक्षर ब्रह्म, तेरहवें में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, उपनिषदों हीके आधार पर हैं।

अध्याय १५ के १५ वें श्लोक में उपनिषदों को वेदान्त के नामसे कहा है। अध्याय १३ के चौथे श्लोक में ब्रह्मसूत्रों का वर्णन है।

सांख्य और वेदान्त शास्त्रों के भाव, स्थल २ पर दृष्टिगोचर होते हैं। १० वें अध्याय के २६ वें और ३७ वें श्लोकों में “कपिल” और “व्यास” के नाम भी दिये हैं। अध्याय १८ के १३ वें श्लोक में सांख्यादिशास्त्रों का हवाला है। अध्याय १६ के २४ वें श्लोक में धर्मशास्त्रों की झलक है। जिस समय की गीता है, उस समय के सभी धर्मशास्त्र और वैज्ञानिकशास्त्रों के सिद्धान्त उसमें हैं। गीताको ठीक तरह पर समझने के लिए इन सब शास्त्रों का जानना आवश्यक है। उपनिषदों का वेदान्त और बौद्धधर्मके उपदेश, इन दोनों के मध्य में गीताका स्थान है। वेदविहितकर्म और उपासनामार्ग और उपनिषदों के धर्मोपदेश, इन सब को गीता मिलादेती है। कठिन तपस्याके मार्ग से रोकती हुई, गीता, मनुष्य को अपने कर्त्तव्यमें तत्पर होनेका उपदेश देती है। संसारत्याग से अथवा इन्द्रियों के सब भोगत्याग से मोक्ष नहीं मिलती है; और न इन्द्रियों के विशेष भोगसेही मोक्ष की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण का उपदेश इन दोनों पक्षों के मध्य में है। श्रीकृष्ण वेदों के प्रवृत्तिमार्ग को उपनिषदों के निवृत्तिमार्ग से मिलाते हैं। मनुष्य को उचित है कि न तो इन्द्रियों को ऐसी स्वतन्त्रता देदे कि वह स्वयं विषय भोगमें ही लिप्त होजाए और न इन्द्रियों को सर्वथाही वशमें करने की चेष्टा करे; क्योंकि इन्द्रियों का सर्वथा वशमें होना असम्भव है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि सदा इन दोनों मार्गों का मध्यगामी हो। श्रीकृष्ण का यह उद्देश नहीं था कि पूर्वकाल के ऋषि-मुनियों के

धर्मोपदेशों का खण्डन किया जाय । श्रीकृष्ण तो प्रायः सभी धर्मोपदेशों को मानते हैं और सब धर्ममार्गों को अच्छा बताते हैं, किसी का खण्डन नहीं करते । वेदविहितयज्ञादिकर्म, वेदान्तोक्त सन्यासमार्ग, सांख्यशास्त्रनिर्दिष्टाविवेकप्राप्ति, योगशास्त्रानुसार मन इन्द्रियों को वशकरना—इन सब मार्गों को मानते हुए, श्रीकृष्ण ने आत्मा की नित्यता और गौरवता का प्रतिपादन किया है । पूर्वकाल से जितने मतमतान्तर चले आतेथे, श्रीकृष्ण के उपदेशसे पुनरुज्जीवित होगये । इन सब मतोंको श्रीकृष्ण ने अपने सात्विककर्म मार्ग से मिला दिया है । श्रीकृष्ण का केवल उपदेश यही नहीं था कि मनुष्य को कर्म एवं सात्विक कर्म करना चाहिए, बल्कि यह कि जो सात्विककर्म किया जाय वह अहंकार और फलकी कामना को त्यागकर किया जाय । भक्ति और उपासना को निस्पृह होकर करनी चाहिये । इतनाही नहीं, बल्कि जो कुछ कर्म किया जाय उसमें स्वार्थ और कामना का लेश भी न हो और सब कर्म ईश्वर के समर्पण किये जायँ । जिस जिस प्रकार ईश्वर माना गया है, उन सब रूपों को श्रीकृष्ण मानते हैं; परन्तु इन का ईश्वर प्रतिपादन इस तरह है—ईश्वर संसार का स्रष्टा है, वही सबका पालन करता है, वही प्रलय में संसार का नाश करता है, वह सब संसार का अधिष्ठाता है, वह गुणरहित भी नहीं है । वह ऐसा ईश्वर नहीं है जिसने संसार को उत्पन्न करके नियमानुसार चलने को छोड़दिया हो । वह तो संसार का शासन निरन्तर करता रहता है । साधुओं को सुख देता है, दुष्टों को दण्ड देता है । वेदान्त, सांख्य और योगशास्त्रों के सिद्धान्तों को मानते हुए, श्रीकृष्ण ने ईश्वर विषय को इन सिद्धान्तों से मिला दिया है । गीतामें ७ से १२ अध्यायों में यही विषय है । वेदान्त में ईश्वर को जगत् वा उपादान और निमित्त कारण माना है । श्रीकृष्णने भी यही माना है, परन्तु यह और बताया है कि वह तो जगत् में है, पर जगत् उसमें नहीं है । सांख्य मत में जगत् को उत्पन्न करने वाली "प्रकृति" मानी गई है । श्रीकृष्णने भी जगत् की

उत्पत्ति प्रकृति से मानी है; परन्तु साथही साथ यह भी बता दिया है कि ईश्वर, प्रकृति का अधिष्ठाता है। ईश्वर जगत् का कर्त्ता भी है और उसमें मनुष्यरूप से अवतार भी लेता है। जगत् अपनी शक्तियों से चलता है; परन्तु ईश्वर सब शक्तियों का चलाने वाला है। श्रीकृष्ण ने सभी मार्गों को अच्छा माना है और कहा है कि ईश्वर की प्राप्ति सभी मार्गों से हाँ सकती है परन्तु भक्तिमार्ग सबसे श्रेष्ठ है। भक्तिमार्ग की विलक्षणता यह है कि सबजाति के मनुष्य, स्त्री, शूद्र आदिभी इसके साधन से परमपद को प्राप्त कर सकते हैं। सब को एकसः फल मिलता है। मनुष्यजातिकी एकता और भ्रातृत्व पूरी तरह से वर्णित हैं। श्रीकृष्ण के उपदेश का रहस्य यह है कि "यदि योगमार्ग का सेवन करो, तो मुझ में दत्तचित्त हो। यदि भक्ति करो, तो मेरी भक्ति करो, यदि वेदविहितकर्म करो, तो मेरे लिए करो। यदि इनमें से कुछ भी न करो, तो मेरी उपासना करो। इनमें से किसी का भी साधन करोगे, तो मुझ तक प्राप्त हो सकते हो"।

सारांश यह है कि मनुष्यको सफलता और निष्फलता का विचार छोड़ अपना कर्त्तव्य करना चाहिये। ईश्वर पर उसे पूरा भरोसा करना चाहिये। इस बातका निरन्तर ध्यान रखना उचित है कि जो कुछ मनुष्य करता है वह ईश्वरकी इच्छासेही करता है। मनुष्य, न तो कभी सब इन्द्रियों कोही निरन्तर वशमें करसकता है, और न सर्वथा त्यागी ही होसकता है। यदि धर्मनियमानुसार इन्द्रियों का स्वल्प भोग किया जाय, तो वही फल प्राप्त होसकता है जो जितेन्द्रिय होनेसे प्राप्त होसकता है। श्रीकृष्ण का उपदेश है कि धर्मानुसार कर्म करना चाहिये। यज्ञादि अनुष्ठान करने को श्रीकृष्ण मने नहीं करते, बल्कि उनका यह कथन है कि ये कर्म भी क्रियेजायँ; परन्तु इनके करने में मनुष्यको लिप्त न होजाना चाहिए। श्रीकृष्णजी के कथनानुसार सन्यास का यह अर्थ है कि मनुष्य जो कुछ भी कर्म करे, उसमें फलकामना त्याग दे—यह नहीं कि सर्वथा संसार कोही त्याग दे। त्यागका अभिप्राय यह है कि जो कुछ कर्म

मनुष्य करे, उसमें अभीष्टफलकी वासना छोड़ दे—यह नहीं कि सर्वथा कर्म करनाही छोड़ दे । ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि गृहस्थी, पवित्र जीवन धारण करे, न कि यह कि विषय भोग को सर्वथा त्याग दे-व्रत और उपवासका यह अर्थ है कि मनुष्य थल्प आहार करे—यह नहीं कि आहार करना ही त्याग दे ।

श्रीकृष्ण ने सगुण ईश्वर की उपासना बताई है । कहा है कि ईश्वर संसार का स्रष्टा, न्यायकारी, रक्षक और अधिष्ठाता है । अर्थात् धर्म करने वालों की रक्षा करता है और दुष्टोंको दण्ड देता है । ब्राह्मण, चांडाल, स्त्री, पुरुष, कोई क्यों न हो, जो दृढभक्ति और पूर्णश्रद्धासे ईश्वर की उपासना करता है, वह परमधामको प्राप्त होता है । वेदान्त, सांख्य योगादि शास्त्रों के सिद्धान्तों को श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिपादित ईश्वर-विषय में मिला दिये हैं ।

सृष्टिकी उत्पत्ति, आत्मा और परमात्माके संयोग से होती है । आत्मा और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध होजानाही मोक्षप्राप्ति का मार्ग है; यह सब विषय गीता में सम्यक् प्रकार प्रतिपादित हैं । धर्ममार्ग-अनेक हैं—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, संन्यास योग इत्यादि । जगत् के भिन्न २ देशों में भिन्न २ धर्ममार्ग हैं । गीता, इनमें से किसी की भी निन्दा नहीं करती है । श्रीकृष्ण का कथन है कि ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं—कोई सीधा और कोई टेढ़ा; परन्तु ये सब मार्ग एकही स्थानपर पहुँचते हैं ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

ममवर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

गीता में सब प्रकार का धर्म और सदाचार बताया गया है । पापके गूढ़से गूढ़ कारण दिखाये गये हैं और उनके नाश करनेके उपाय भी बताए गये हैं । गीता धर्मोपदेशका अमूल्यरत्न है । कौन ऐसा मनुष्य है जो इस रत्नको न लेना चाहे । भारतवासियो ! इस अमृतधाराको पियो; इसके पान करने से तुम अमर और निरन्तरसुखी हो जाओगे ।

श्रीकृष्ण की गीता ।

सर्वोपि निषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भाक्ता दुग्धं गौतामृतं सहत् ॥

संसार भर की धर्म पुस्तकों में गीता का उच्चतम स्थान है। वेद, उपनिषत्, शास्त्र, धर्मस्मृतियाँ—इन सब का निचोड़, गीता है। गीता की महिमा इसी देश में नहीं, बल्कि समस्त भूमंडल में फैल रही है। इस का अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुका है। योरप देश के विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से इस की प्रशंसा की है। इस में चमत्कार की बात यह है कि जितने धर्म और सम्प्रदाय हैं, उन में से किसी का खण्डन नहीं है, किन्तु उन सब के गूढ़तत्वों को मानते हुए श्रीकृष्णभगवान् ने अपना कुछ विलक्षणही उपदेश किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत कुछ वाद-विवाद के पश्चात् इस बात को मान लिया है कि गीता एक प्राचीन पुस्तक है और महात्मा ईसा के जन्म से पहले कीही चली आती है। उन के विचार से गीता, ईसा के ५०० वर्ष पहले की बनी हुई प्रमाणित होती है। इस पुस्तक में अष्टारह अध्याय और ७०२ श्लोक हैं, और प्राचीनकाल में जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रचलित थे, उन सभी का उल्लेख इस में है। एक गीता पढ़ लेने से प्राचीनकाल के सभी सिद्धान्तों से परिचय हो सकता है। इस पुस्तक के सिद्धान्तों को कोई सन्यास और वैराग्य विषय में लगाता है, कोई, भक्ति विषय में, और कोई, कर्म-योग विषय में। इस समय गीता को कर्मयोग विषय में लगाने की चेष्टा हो रही है। यह ग्रन्थ ही ऐसा अद्भुत है कि जिस विषय में चाहो, उस में इसे लगा लो। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीता के उपदेशों का मुक्ताव कर्ममार्ग की तरफ ही है।

इस वक्तव्य के पश्चात्, गीता में जो २ विषय हैं, उनमें से कुछ का वर्णन यहां संक्षेपरूप से करते हैं ।

सृष्टि

सृष्टि के विषय में गीता का मत यह है कि ब्रह्म, अपनी योगमाया के द्वारा, कल्प के आरम्भ में संसार को उत्पन्न करता है और प्रलय के समय यह सब उसी में लय हो जाता है । यह योगमाया सत्व, रज, और तम, तीन गुणों की बनी है । इन्हीं गुणों से कार्य कारण भाव की उत्पत्ति होती है । इस शक्ति के दो रूप हैं, परा और अपरा । परा, आठ चीजों की बनी है, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार । क्षेत्र और क्षेत्र विकार, सब इसी के बने हैं, अर्थात् महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना, धृति । अपराशक्ति सब जीवों की जीवनशक्ति है । उसी से सबकी उत्पत्ति है ।

मम यानिर्महद्ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां, ततो भवति भारत ॥ श्लो. ३७. १४

कल्प के आदि में सृष्टि-क्रम इस प्रकार है । प्रथम सप्तऋषि उत्पन्न हुये, उसके पीछे सनक सनन्दन सनतकुमार, उसके पीछे मनु आदि की मन से उत्पत्ति हुई और इनसे मनुष्यों की उत्पत्ति हुई; इस प्रकार संसार चला । यह उत्पत्ति सांख्य शास्त्र के अनुसार है ।

जीव ।

जीव के विषय में गीता यह कहती है:—

ममैवांशो जीवलोको जीवभूतः सनातनः

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥ अ. १५

अर्थ—मेरा ही अंश जीवलोक में सनातन जीव का रूप हो कर, प्रकृति की बनी हुई इन्द्रियों और मन पर, अधिकार जमाता है ।

शरीरं यद्वाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयत् ॥८॥ अ. १५

जब शरीर धारण करता है और जब शरीर छोड़ता है, तो इन इन्द्रियों और मनको साथ ही ले जाता है; जैसे कि वायु सुगन्धि के स्थानों से सुगन्ध ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च

अधिष्ठाय भनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥ अ. १५

कान, आंख, स्पर्श, रसना, गन्ध, और मन, इन सब पर अधिकार करके इन्द्रियों के विषयों को वही भोगता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढानानुपश्यन्ति पश्यति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥ अ. १५

अर्थ—जब यह जीव गुणों से बँधा हुआ देह छोड़ता है, स्थित रहता है, अथवा उसका भोगता है, तब मूढ़ पुरुष तो उसे नहीं देखते, परन्तु ज्ञानचक्षु वालों को सब दिखाई देता है।

परमात्मा

द्वाविमौ पुरुषौ लोको क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥ अ. १५

अर्थ—इस संसार में दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर—नाशवान् और अविनाशी। जितने संसार में पदार्थ हैं, सब नाशवान् हैं (क्षर हैं) और आत्मा अक्षर अर्थात् अविनाशी है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्धः परमात्मैत्युदाहृतः

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७॥ अ. १५

अर्थ—सबसे श्रेष्ठ पुरुष तो और ही है, जिसे परमात्मा कहते हैं; वही तीनों लोकों को धारण करता हुआ अविनाशी ईश्वर है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥ अ. ५

अर्थ—संसार का प्रभु न कर्तापनको, न कर्मों को और न इनके फल सम्बन्ध को उत्पन्न करता है, स्वभाव से ही सब प्रकृति की प्रवृत्ति है ।

ऋत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वसिद्धं प्राक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥ अ. ७

अर्थ—उससे परे कोई नहीं है । जैसे डोरी में मोती पुरे होते हैं उसी प्रकार सब संसार के पदार्थ उसके आधार पर हैं ।

अध्याय १० के २० से ३८ तक श्लोक देखो ।

जीव और ईश्वर का सम्बन्ध ।

जीव, ब्रह्म का अंश है परन्तु ब्रह्म अविभक्त है; जैसा १३वें अध्याय के १७ वें श्लोक में कहा है । इसलिये जो पृथक्ता दिखाई देती है, वह माया से है । वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं । माया हट जाने पर कोई पृथक्ता नहीं रहती है ।

मोक्ष प्राप्त करने के बहुत मार्ग हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य निम्न लिखित हैं ।

१०-कर्मयोग ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥ अ. २

अर्थ—तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, उसके फलकी प्राप्ति में नहीं; कर्म के फल की कामना से कर्म मत करो; और न कर्म ही करना छोड़ दो ।

२-ध्यानयोग ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥ अ. २

अर्थ-वासनाओं को छोड़ ध्यानयोग में तत्पर हो, सिद्धि और असिद्धि में समभाव हो; क्योंकि योग का अर्थ समभाव होना ही है ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यंस्व योगः कर्मसु कौशलं ॥५०॥ अ. २

अर्थ-बुद्धि को स्थिर कर योग करने वाला अच्छा बुरा सब कर्म त्याग देता है । ऐसा योग करो, कर्म करने में कुशलता का नाम योग है ।

३-ज्ञानयोग ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्कर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्नकर्मकृते ॥१८॥ अ. ४

अर्थ-जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह सब कर्म करता हुआ भी-मनुष्यों में ज्ञानवान् और योगी है ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः परिडितं बुधाः ॥१९॥ अ. ४

अर्थ-जिसके सब काम कामना के लेश से शून्य हैं और जिसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गये हैं, उसे ही ज्ञानवान् लोग पंडित कहते हैं ।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्मसमग्रं विप्रलीयते ॥ २३ ॥ अ. ४

अर्थ—जिसकी वासना जाती रही है, जिसका चित्त ज्ञानावस्था में मग्न है, जिसके कर्म यज्ञों के समान है, उसके संध कर्म लोप हो जाते हैं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृतमः ।

सर्वज्ञानस्रवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥ अ. ४

अर्थ—यदित् सब पापियों से भी पापी क्यों न हो, ज्ञानवह्नी के द्वारा सब पापों के पार हो जायगा।

४-सन्यासयोग ।

सन्यास का रहस्य यह है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ग्राहृभ्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥ अ० १८

अर्थ—कामनायुक्त कर्मों का त्याग करना सन्यास कहा है, सब कर्मों के फलका त्याग करना त्याग है। श्रीकृष्ण का उपदेश है कि विहित कर्मों का त्याग उचित नहीं, केवल कर्म फल छोड़ना उचित है।

नहिदेह भृतां शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागौ स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ अ. १८

अर्थ—सब काम छोड़ देना मनुष्यों के लिये असम्भव है, इसलिये कर्म-फल को त्याग देना ही त्याग है।

५-भक्तियोग ।

यत्करोषि यदप्रनासि यज्जुहोषि ददामि यत् ।

यत्तपस्यसि कान्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २० अ. ६ ॥

अर्थ—जो कुछ तू करे, जो कुछ खाये, जो कुछ हवन करे, जो कुछ दान करे, या जो कुछ तपस्या करे, वह सब अर्पण करके कर।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६अ.१८

अर्थ—सब धर्मों को छोड़ केवल मेरी शरण आ। मैं सब पापों से तेरी मोक्ष करूँगा। शोक मत कर ।

इन मार्गों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण का यही कथन है कि जितने मार्ग हैं सभी अच्छे हैं; क्योंकि—

ये यथा सां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११अ.४॥

अर्थ—जो जिस प्रकार से मेरी उपासना करते हैं, मैं उसी प्रकार से उनसे मिल जाता हूँ। हे अर्जुन, सब प्रकार से मनुष्य मेरे ही मार्गों में आते हैं। सबका सारांश यह है ।

श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२अ.१२

अर्थ—अभ्यास मार्ग से ज्ञान मार्ग अच्छा है, ज्ञान से ध्यान अच्छा है, ध्यान से कर्मफलत्याग अच्छा है। इस त्याग से अनन्तरशान्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति होती है ।

मोक्ष ।

मोक्ष में ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है; जैसाकि कहा है—
सयोगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूताऽधिगच्छति॥२४॥५

इस परम सिद्धि की प्राप्ति करने के पीछे इन महात्माओं का फिर न जन्म होता है न वे इस नाशवान दुःख के संसार-स्थान में आते हैं। यथा—
मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः॥१५अ.८

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥२० अ. १४

अर्थ—वे, जन्म मृत्यु और वृद्धावस्थादि दुःखों से मुक्त होकर
अमृत पान करते हैं, अर्थात् अमर हो जाते हैं।

यह पद निरन्तर शान्तिपुत्र का स्थान है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्भाम परमं मम॥६ अ. १५॥

अर्थ—यहां न सूर्य का, न चन्द्रमा का, न अग्नि का प्रकाश है, यह
मेरा परमधाम है। यहां पहुँच कर संसार में फिर लौटना नहीं होता है।



दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्त ।

दर्शनशास्त्रों का महत्त्व कौन नहीं जानता है । इनकी समस्त भू-मण्डल में महिमा फैली हुई है । योरप के बड़े-र विद्वानों ने इनकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है और कहा है कि मध्याह्नकालसूर्य के प्रचण्ड तेज के सदृश तेजके सामने योरप का ज्ञान-शास्त्र एक धुंधले टिम-टिमते दीपक के मलिन प्रकाश के बराबर है ।

दर्शनशास्त्र छः हैं—वेदान्त, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग और पूर्वमीमांसा । इन छःहों शास्त्रों के रचयिताओं के ये नाम हैं—व्यास, कपिल, गौतम, कणाद, पतञ्जलि, जैमिनि ।

यदि विचार कर देखा जाय, तो सब ज्ञान और विज्ञान शास्त्रों में—मुख्यतः तीन विषयों का विवेचन है, अर्थात् ईश्वर क्या है? जीव क्या है? संसार क्या है और कैसे उत्पन्न हुआ है ?

दर्शनशास्त्रों के विचार इन विषयों पर सूक्ष्मतः नीचे लिखते हैं ।

पूर्वोक्त छः शास्त्रों में योग और पूर्वमीमांसा ऐसे शास्त्र हैं कि जिन में इन विषयों पर कोई स्वतंत्र विचार नहीं किया गया है । इस कारण इन दो को छोड़, बाकी के चार दर्शनों के विचार लिखते हैं :—

न्याय और वैशेषिक शास्त्रों का परस्पर गाढ़सम्बन्ध है । इन दोनों के विचारों में भिन्नता नहीं है; इस-लिए इन दोनों के सिद्धान्त साथ-ही लिखते हैं ।

जीव क्या है? इस विषय में गौतम और कणाद के ये सिद्धान्त हैं:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति ।

प्राणयाननिमेषोन्मेषमनोगतौन्द्रियान्तरविकाराः

सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नञ्चात्मनो लिङ्गानि:—

अर्थ—प्राण (सांस बाहर निकालना), यान (सांस भीतर खींचना), निमेष (नेत्रों को खोलना, बंद करना, मन, गति (चलना फिरना),

इन्द्रियां, अन्तराधिकार (क्षुधादि), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष; प्रयत्न; ये सब लक्षण जीव के हैं ।

जीव अनेक हैं, एक नहीं ।

पश्चिमीय विज्ञानशास्त्रवेत्ताओं ने भी जीव के ऐसेही लक्षण माने हैं ।

ईश्वर क्या है? इसका उत्तर इन दर्शनों में इस भांति है :—

ईश्वर सगुण है । सत्य, दया, बल, ज्ञान; ये सब गुण ईश्वर में अन्तिम सीमा के हैं । ईश्वर संसार का रक्षक और अधिष्ठाता है, परम दयालु और न्यायकारी है, मनुष्यों को कर्मानुसार सुखदुःख देता है ।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरण्णीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णितमसा परस्तात् ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः, शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

अर्थ—ईश्वर सर्वज्ञ है, पुराने से पुराना है, समस्त संसार का अनुशासन करने वाला है, छोटे से छोटा है, उसके रूप का चिन्तन नहीं हो सकता है, अंधकार से परे है, और उसमें सूर्य का तेज है । ईश्वर जगत् का पिता, माता, धाता, 'प्रपिता' है । ऋक्, साम यजुर्वेदादि वही है । वही पवित्र ज्ञानेनयोग्य वस्तु है । ईश्वर ही संसार की गति है, वही संसार का भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण सुहृद्, प्रभव, प्रलय स्थान, निधान और अव्यय बीज है ।

इन श्लोकों से यह भी ज्ञात हो गया होगा कि ईश्वर और जीव का क्या सम्बन्ध है ।

ईश्वर का जीव के साथ माता, पिता, धाता, भर्ता, प्रभु सुहृदादि का सम्बन्ध है ।

ईश्वर और जीव एक नहीं हैं, पृथक् २ हैं, और न सब मनुष्यों के जीव एक ही हैं; प्रत्येक प्राणी का जीव पृथक् २ है।

संसारोत्पत्ति के विषय में न्याय और वैशेषिक का यह मत है कि संसार परमाणुओं से बना है। परमाणु वह है जिसके न टुकड़े हो सकें, न जिस का कुछ विस्तार हो और न जो दिखाई दे। दो २ तीन २ चार चार परमाणु आपस में मिलकर पदार्थों के रूप में दिखाई देने लगते हैं। सब संसार इन परमाणुओं के परस्पर मिलने से बना है।

अब सांख्य दर्शन के सिद्धान्त सुनिये।

जीव को सांख्यदर्शन में पुरुष के नाम से पुकारा है और पुरुष के ये लक्षण कहे हैं :—

पुरुष अनादि है, गुणों से रहित है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, देशकालादि के बंधन से परे है; वह न कोई कर्म करता है, न स्वयं उत्पन्न हुआ है, और न किसी वस्तु को उत्पन्न करता है, अमर और नित्य है। सब दोषों से निष्कलंक है, प्रकृति की रचना को देखने वाला है, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ इन सब के परे है, देश, काल, कारण, बन्धनादि जाल से विमुक्त है, उसे सुख दुःख कुछ नहीं होता है। अन्धे घुरे किसी प्रकारके कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे पुरुष अनेक हैं, एक नहीं, अर्थात् जितने संसार में प्राणी हैं, सबके पुरुष पृथक् २ हैं—एक नहीं हैं।

पुरुष के लक्षण पढ़ने के पीछे यह प्रश्न उठता है कि जब पुरुष को सुख-दुःख नहीं होता तो किसे होता है? कर्म का फल कौन भोगता है? संसार में किस का आवागमन होता है?

इसका यह उत्तर है कि पुरुष के सिवा एक लिङ्ग शरीर और है। उसी को सब सुख दुःखादि होते हैं और उसी का आवागमन होता है। यह लिङ्ग शरीर १८ चीजों का बना है, अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच तन्मात्राएँ (शब्दादि), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। शब्द, स्पर्श गंधादि के आदि कारणों को तन्मात्राएँ कहते हैं।

कान, नाक, नेत्र, जिह्वा, और त्वक्; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ।

मुख, हाथ, पैर, लिङ्ग, और गुदा; ये पाँच, कर्मेन्द्रियाँ हैं ।

विचार कर देखा जाय, तो जिसको न्याय और वैशेषिक दर्शनों ने जीव कहा है उसी को सांख्य ने लिङ्ग शरीर के नाम से पुकारा है; क्योंकि संसार का सब कार्य लिङ्ग शरीर के द्वारा ही होता है । पुरुष को इससे कोई सम्बन्ध नहीं है । पुरुष तो केवल चुपचाप बैठा प्रकृति की क्रीड़ा देखता रहता है; प्रकृति के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है। जब पुरुष प्रकृति का सम्बन्ध प्रचलन होने लगता है, तब संसार बनना प्रारम्भ होता है; प्रकृति में अनेकानेक विकार होने लगते हैं । उत्पात्तिक्रम यह है:— पहिले बुद्धि, फिर अहंकार, फिर तन्मात्राण्य, फिर १६ विकार, अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच महाभूत । इस प्रकार प्राकृतिक संक्रम से संसार की रचना हुई । जब प्रति संक्रम होता है, तो प्रलय हो जाती है । बुद्धि से लगाकर पापाण तक वस्तुएँ, प्रकृति-संक्रम से उत्पन्न होती हैं । पुरुष का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है । इन विषयों में वेदान्तदर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं:—

सांख्य ने जिस प्रकार पुरुष के लक्षण माने हैं, वैसेही वेदान्त मानता है । सांख्य में इसका नाम पुरुष है, और वेदान्त में इसका नाम आत्मा है ।

आत्मा सब गुणों से रहित है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, इन्द्रियों से परे है, निर्दोष है, नित्य प्रकाशमान है, संसार के भीतर बाहर दोनों है । न वायु से उड़ सकती है, न पानी से भीग सकती है, न चलाये चल सकती है, न कोई सांसारिक काम करती है, न यह करना उसका काम है, 'मैं' तू' इन उपाधियों से रहित है ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अज्ञो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(आत्मा) न जन्म लेती है; न मरती है, न उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त होती है और न उसका जन्म होता है, वह नित्य है, अनन्त है, प्राचीन है । शरीर के मरने पर उसका नाश नहीं होता है ।

नैनं छिन्दति शास्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

उसका छेदन न शब्दों से हो सकता है, न उसे अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है, और न पवन सुखा सकती है ।

अच्छेद्योऽयमदाक्षोऽयमक्लोऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थासुरचलोऽयं सनातनः ॥

न यह छेदी जा सकती है, न जलाई जा सकती है, न भिग सकती है, न सूख सकती है; वह नित्य, सर्वव्यापी, अनन्तस्थितिवाली, अचल और सनातन है ।

जिसको जीव कहते हैं और जिसके लक्षण "मैं" "तू" हैं, वह प्रकृति अथवा माया का बना हुआ है । सांख्य में इसे लिङ्ग शरीर कहा है, और वेदान्त में सूक्ष्म शरीर । पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, मन और बुद्धि: इन १७ चीजों का सूक्ष्म शरीर बना है । ये लक्षण सांख्य के लिङ्ग शरीर से मिलते हुए हैं ।

सांख्य और वेदान्त ने आत्मा का रूप लगभग एकसा ही माना है; अन्तर इतना ही है कि सांख्य में तो पुरुष अनेक माने गये हैं, और

वेदान्तमें केवल एक जिसे आत्मा कहा है। एक आत्माही देश-काल-कारण बंधन (Time, Space and Casualty) रहित हो सकती है, अनेक नहीं। जितनी पृथक्ता और भिन्नता दिखाई देती है, वह सब इन तीन चीजों की ही है। यदि कोई ऐसी वस्तु है कि जिसमें ये तीनों चीजें नहीं हैं, तो वह एकही हो सकती है, अनेक नहीं; अतएव आत्मा एक है, अनेक नहीं।

ईश्वर विषय में, वेदान्त, निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार और नित्य है। समस्त संसार की सत्ता उसी से है। ब्रह्म में शब्द स्पर्शादि विकार नहीं हैं। जरामरण का बंधन भी कोई नहीं है। वह अनादि अनन्त है, बड़े से बड़ा है, छोटे से छोटा है और ऊंचे से ऊंचा है। आकारवालों में निराकार है, नाशमानों में अविनाशी है, सर्वव्यापी है और संसार का आधार है। उस तक वांणी, नेत्र, मन कोई नहीं पहुंचते हैं। संसार के किसी पदार्थ से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती है। उसे केवल नेति नेति शब्दों से पुकारते हैं। संसार में जो विचित्रता दिखाई देती है वह अविवेक के कारण है। यदि अविवेक-निद्रा टूट जाय, तो पुरुष और प्रकृति में कोई सम्बन्ध न रहे।

सांख्य ने ईश्वर विषय में कुछ नहीं कहा है, केवल सगुण ईश्वर की अस्तित्व मानी है। सगुण ईश्वर की अस्तित्व ठहराकर निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया है। सगुण ईश्वर न मानने के कारण कोई कोई सांख्य मत को नास्तिक मत भी कहते हैं; परन्तु सनातनधर्म में तो ऊर्ध्व शास्त्र बराबर माने गये हैं। यदि सनातनधर्म में केवल सगुण ईश्वर ही माना जाता, तो सांख्य को नास्तिक कहना अनुचित नहीं था। इस धर्ममें तो सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के ईश्वर माने गये हैं; अतएव

सांख्य मत को नास्तिक कहना ठीक नहीं है। वास्तव में देखा जाय, तो सांख्य, ईश्वर की सत्ता का निषेध नहीं करता है, केवल सगुण ईश्वर का होना असिद्ध मानता है।

संसारोत्पत्ति के विषय में सांख्य का बड़ा गौरवशाली विचार है। यह वही विचार है जिसे योरप के विद्वान इस समय मान रहे हैं। डारविन और स्पेन्सर के सहस्रों वर्ष पहले कपिलमुनि इस विचारको प्रकट कर चुके थे। इस विचार का नाम परिणामवाद या विकासवाद है।

संसार की उत्पत्ति प्रकृति से है। प्रकृति में सत्व, रज और तम तीन गुण हैं। जब इन गुणों में से किसी गुणकी अधिकता होती है, तो प्रकृति में संचलन होने लगता है। सद्य प्राकृतिक दृश्य इसी दैवीमायाविनी के खेल हैं। संसार एक प्रकार का रहस्य है। जिस किसी के पास इसकी कुंजी है, वह उसको जान लेता है।

संसारप्रपंच ब्रह्म का आवरण है; जिसने इस आवरण को ज्ञान रूपी शस्त्र से छेद डाला है, उसे साक्षात् परमात्मा की झलक दिखाई दे गई है। जितने सुन्दर, मनोहर और आकर्षणकरनेवाले पदार्थ संसार में हैं, सबमें परमात्मा की ही झलक है। नाम रूप के अनन्त विस्तारित आवरण के छिद्रों से परमात्मा के चमत्कार की झलक दिखाई देती है। पिक और कोकिला के मधुर गान में वही है। पुष्पवाटिका की सुगंधि वही है। नक्षत्रों की ज्योति वही है। नवयौवना के सुन्दर रूप में उसी की झलक है। मेघ के प्रचण्ड गर्जन में उसी का शब्द है। अन्तःकरण की शान्तवाणी में वही बोलता है। समुद्र की तुङ्ग तरंगों में उसी की शक्ति है। भागीरथी के जलप्रवाह में उसी का उद्वेग है। वक्ता के पद-लालित्य में उसी का प्रभाव है। चित्रकार की लेखनी में उसी का महत्व है। शिल्पकार की टांकी में उसी की शक्ति का आविष्कार है। न्यायाधीश का वही न्याय है। योद्धा का वही वीरत्व है। परोपकारी का वही

धर्म है । लिह का कोप, यकरी की दीनता, हिरण की चंचलता; सब उसी की शक्ति के रूप हैं ।

उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार है :—

यत्तददृश्यमग्राह्यमगोच्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्र तदपाणि-
पादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूचमं तद्व्ययं तद्भूतयोनिं
परिपश्यन्ति धीरा ।

अर्थ—वह दिखाई नहीं देता है, न ग्रहण किया जासकता है, न उसका जन्म है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके नेत्र हैं, न कान हैं, न हाथ हैं, न पैर हैं; वह नित्य है, व्यापी है, सर्वत्र वर्तमान है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, अविनाशी है । धीमान् पुरुष उसे सब प्राणियों का आदिकारण कहते हैं ।

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकान्नेमा विद्युतो-
भान्ति कुतोऽयमग्नि । तमेवभान्तमनुभाति सर्वन्तस्य
भासा सर्वमिदं विभाति ॥

अर्थ—वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा, न तारे । जग्न विजली तक वहाँ नहीं प्रकाश करती है, तो अग्नि की क्या पहुंच है । उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं । उसी के तेज से संसार में उजाड़ा है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुर्वाह्य
दोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक
दुःखेन बाह्यः ॥

अर्थ—जैसे सूर्य सब लोक की चक्षु है, और नेत्रों और बाहर की वस्तुओं के दोषों से दूषित नहीं होता है, वैसेही सब जीवों

में वर्तमान आत्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होती है; क्योंकि वह संसार के दुःखों से परे है ।

सर्वाननशिरोऽग्रैवः सर्वभूतगुहाशयः ॥

सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

अर्थ—वह सब का मुख है, सबकी ग्रीवा है और सब जीवों के हृदयमें स्थित है; वह सबका स्वामी, सर्वव्यापी, सर्वगामी और आनन्दरूप है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अर्थ—जो मन करके ध्यान में नहीं आता, किन्तु मन का ज्ञान जिससे होता है, उसे ब्रह्म जानो, न कि उसे जिसके सामने उपासक बैठते हैं ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न
विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादयो
अविदितादधि ।

अर्थ—वहां नेत्र, वाणी, मन, किसी की पहुँच नहीं है, हम उसे नहीं जानते हैं, न यह जानते कि वह क्या है; जो कुछ जानने में आया है उससे वह पृथक् है, जो कुछ जानने में नहीं आया है उससे भी पृथक् है ।

नैनमूर्द्धनं तिर्य्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्व्यशः ॥

अर्थ—सिरसे अथवा अगल अगलसे या बीच से उसे कोई नहीं पकड़ सकता है । उसके समान कोई नहीं है, उसका नाम महान् यश है ।

श्रोत्रस्यश्रोत्रमनसो मनोयद्वाचो ह वाचः सः
प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्यास्मान्लो
कादमृता भवन्ति ।

अर्थ—वह कान का कान है, मन का मन है, वाणी की वाणी है,
प्राण का प्राण है, नेत्र का नेत्र है । इस संसार को छोड़कर धीमान् पुरुष
मुक्त हो जाते हैं ।

न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधि
कश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विबधैव श्रुयते स्वभाविकी
ज्ञानबलक्रिया च ॥

अर्थ—उसका न कार्य है, न कारण है; उसके समान वा
उससे अधिक कोई नहीं दिखाई देता है; उसकी शक्ति बहुत प्रकार की
है और स्वभाव, ज्ञान और बल के अनुसार काम करती है ।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुंसकः ।

यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है; जिसर शरीर को धारण
करता है, उसी उसी करके युक्त होता है ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्त
रात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चैता
केवली निर्गुणश्च ॥

अर्थ—वही एक देव सब जीवों में छिपा हुआ है, सब में व्याप्त
है, सब जीवों की आत्मा है, सब कर्मों का अध्यक्ष है, सब जीवों
का अधिपति है; सब का चैतन्य साक्षी है, वह केवल निर्गुण है ।

वेदान्त में ब्रह्म और आत्मा को एकही माना है; क्योंकि जो देश-काल कारण उपाधियों से रहित है; वह दो नहीं हो सकते ।

संसार की उत्पत्ति के विषय में वेदान्तमत सांख्य से मिलता हुआ है । जिस प्रकार सांख्य ने प्रकृति से उत्पत्ति बताई है, उसी के आधार पर वेदान्त ने सृष्टि-रचना मानी है, केवल इतना ही अन्तर है कि सांख्य प्रकृति को नित्य और स्वतंत्रव्यक्ति मानता है, वेदान्त इसे माया के नाम से पुकार कर अनिर्वचनीय कहता है । माया, न सत्य है, न असत्य है । माया का अनुभव हो सकता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है । वह प्रपञ्च का पुंज है, परस्पर विरुद्धताओं का जाल है । यह जाल संसार को बांधे हुए है । माया की परिभाषा लिखना दुःसाध्य एवं असम्भव है ।

यदि संसार परमाणुओं से बना हुआ है, तो आधुनिक विज्ञान इस मत को शीघ्र ही खंडन कर देता है ; क्योंकि जिन्हें परिमाण कहते हैं वे सिवा शक्ति-विकारों के और कुछ नहीं हैं । स्वयं व्यक्ति रखनेवाले कोई परमाणु नहीं हैं । वेदान्त, माया को स्वयंव्यक्ति वस्तु नहीं मानता है, संसार को स्वप्नवत् कहता है । जैसा संसार जाग्रतावस्था में स्थूल दिखाई देता है वैसा ही स्वप्न में भी दिखाई देता है । यदि स्वप्नावस्थावाले संसार का कोई स्थूलाधार नहीं है, जो जाग्रतावस्थावाले संसार में भी इसकी कोई आवश्यकता नहीं है । संसार तो एक लम्बा स्वप्न है । आत्मा के निज रूप प्रकट होने पर यह स्वप्न लोप होजाता है । संसार को स्वप्नवत् कहना बड़े आश्चर्य की बात मालूम होती है; परन्तु संसार के सभी पारदर्शी विद्वानों ने ऐसा ही कहा है ।

प्लेटो, प्लेटोन्यस, पैथेगोरस आदि यूनान देश के धुरन्धर तत्व-वेत्ताओं ने भी संसार को स्वप्नवत् बताया है ।

इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध कवि टेनीसन लिखते हैं कि जव तक स्वप्न दिखाई देते हैं, सच्चे मालूम होते हैं; हम सभी इस स्वप्न में रहते

हों तो क्या आश्चर्य है। अंगरेज़ी के अद्वितीय कवि शेक्सपियर का वाक्य है "जिस चीज़ से स्वप्न बने हैं, उसी के हम भी बने हुए हैं"।

वेदान्त का कथन है कि प्रकृति की केवल मनोमय सत्ता है, कोई पृथक् स्थूल सत्ता नहीं। मनोमयसत्तावाली प्रकृति में संक्रम प्रति-संक्रम नियमों का प्रयोग उसी प्रकार हो सकता है जैसे स्थूल सत्तावाली प्रकृति में। इस समय के उद्भट तत्त्ववेत्ताओं ने यह दिखा दिया है कि देश काल कारण (Time, space and casualty) जिनसे संसार बना है, केवल मनोमयसत्ता रखनेवाले हैं। इस विचार के चलानेवाले सुप्रसिद्ध कैंट थे। वेदांत के सिवा और सब मतावलम्बी यह मानते चले आये थे कि देश-काल-कारण, मन से अतिरिक्त स्वतंत्र सत्तावाले हैं। यह वैज्ञानिक त्रुटि अब संशोधित कर दी गई है। कैंट ने भलीभांति सिद्ध कर दिखाया है कि इन वस्तुओं के सिवा, मन (Mental) के बाहरवाली (Extra-mental) और कोई सत्ता नहीं है। यदि देश-काल-कारण जिन से समस्त जगत् की रचना हुई है, केवल मनोमयसत्ता (Mental existence) रखते हैं, तो स्पष्ट है कि संसार भी मनोमय है अर्थात् स्वप्नवत् है। इसी का नाम माया है। वेदान्तमतानुसार संसार अविद्या (Nescience) के कारण ही दिखाई देता है। यदि अविद्या हट जाय, तो संसार भी दूर हो जाय।

ऊपर लिखे विचारों का सूक्ष्मतः यह सार है :-

१-न्याय और वैशेषिक दर्शन—

(१) जीव-जीव वह है जिसे सुख दुःख इच्छा छेपादि हों।

वही कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।

जीव पृथक् २ हैं और अनेक हैं।

(२) ईश्वर-ईश्वर सगुण है और जीव से पृथक् है। वह

न्यायकारी है और कर्मानुसार मनुष्यों को सुख दुःख भी देता है।

(३) संसार—संसार की रचना परमाणुओं से हुई है। संसार के जितने पदार्थ हैं, परमाणुओं के पुंज हैं। इस का नाम परमाणुवाद (Atomic theory) है।

२—सांख्य दर्शन।

(१) जीव अथवा पुरुष—पुरुष सुख दुःखादि से रहित है। वह न कर्म करता और न उनके फल भोगता है।

यह सब कर्म लिङ्गशरीर के हैं।

पुरुष तो केवल अनादि, अनन्त, अमर, अजर और निरन्तर बन्धन मुक्त है।

पुरुष एक नहीं अनेक हैं।

(२) ईश्वर—ईश्वरविषय में सांख्य इतना ही कहता है कि सगुण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है।

(३) संसार—संसार की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है। प्रकृति, पुरुष से पृथक् है और स्वयं व्यक्तिसंखनेवाली है। संक्रम (Evolution) और प्रतिसंक्रम (Involution) द्वारा, सृष्टि और प्रलय होते हैं। इस विचार का नाम परिणामवाद अथवा विकासवाद (Evolution theory) है।

३—वेदान्त दर्शन।

(१) जीव अथवा आत्मा—सांख्य ने जो पुरुष का रूप माना है, वही वेदान्त ने आत्मा का रूप माना है। अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य ने अनेक पुरुष माने हैं और वेदान्त ने केवल एक आत्मा।

(२) ईश्वर—निर्गुण ब्रह्म जो सर्वव्यापी और संसार का आधार है।

(३) संसार—संसार की उत्पत्ति उसी तरह जैसे सांख्य ने मानी है, केवल इतना ही अन्तर है कि प्रकृति को माया कहा है, और इस माया को स्वयंसत्तावाली नहीं बताया है। माया अनिर्वचनीय है, न सत्य है और न असत्य है। इसका नाम मायावाद (Doctrine of Nescience) है।

पूर्वोक्त विचारों में क्रमशः विकास है। न्यायवैशेषिक दर्शनों की अपेक्षा सांख्य के और सांख्य की अपेक्षा वेदान्त के विचार अधिक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण हैं।

चार्वाकों (Materialists) के मत से लगाकर वेदान्त-सिद्धान्तों तक उत्तरोत्तर विचारसंवर्धन दिखाई देता है। चार्वाक जोग शरीर को ही आत्मा मानते थे। इनका कहना है कि आत्मा शरीर से पृथक् नहीं है। शरीर के साथ ही उसका जन्म होता है और शरीर के साथ ही उसका नाश हो जाता है। चार्वाकों की कई शाखाएँ थीं। परन्तु किसी शाखावालों का विचार न्याय और वैशेषिक की विचारगम्भीरता तक नहीं पहुँचा है। इनमें से कोई शाखावाले ज्ञानेन्द्रियों को, कोई कर्मेन्द्रियों को, कोई मन को और कोई बुद्धि को आत्मा मानते हैं। जीव के आवागमन (Transmigration of Soul) में इनका विश्वास नहीं है। ईश्वर को मूर्खों को मनकल्पित ढकोसला बताते हैं और संसार की उत्पत्ति आपस में शक्तियों के मिल जाने (Fortuitous Concurrence of forces) से कहते हैं।

इन विचारों की तुलना न्याय-वैशेषिक के विचारों से की जाय, तो बड़ा अन्तर दिखाई देगा। न्याय ने जीव को शरीर से पृथक् माना है। संसार का कर्ता ईश्वर को बताया है। संसार की उत्पत्ति का क्रम परमाणुओं द्वारा माना है। इससे अनुमान होता है कि चार्वाकों की अपेक्षा न्याय और वैशेषिक दर्शनों में विचार की गम्भीरता और गुरुता है। ज्ञानविचार में पहली श्रेणी चार्वाक मत की है, और दूसरी श्रेणी न्याय और वैशेषिक दर्शनों की।

जब न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तों से तुलना की जाती है, तो जैसा अन्तर चार्वाक और न्याय-वैशेषिक विचारों में देखा गया था वैसाही न्याय-वैशेषिक और सांख्य-विचारों में है। जिसे न्याय-वैशेषिक ने जीव माना है उसे सांख्य ने प्रकृति का पुतला बताया है-जीव की महिमा इससे अत्यन्त अधिक बताई है। न्याय-वैशेषिकप्रतिपादित जीव अजर-अमर और नित्य नहीं है। जो लक्षण जीव के बताये गये हैं वे लिङ्ग शरीर के ही हैं, और लिङ्ग शरीर प्रकृति का बना हुआ है। सांख्य का पुरुष बड़ा महत्त्वशाली है। इसके सामने न्याय-वैशेषिक के जीव की कुछ भी तुलना नहीं है। ईश्वर के विषय में देखा जाय, तो न्याय-वैशेषिक के सगुण ईश्वर का सांख्य के महत्त्वशाली प्रमाणों के सामने सिद्ध होना दुःसाध्य एवं असम्भव है। सांख्य ने इस विचार को इसी श्रेणी तक बढ़ाकर छोड़ दिया है। संसार की उत्पत्तिविषय में तो सांख्य ने वह महत्त्वात्मक विचार किया है कि जिसकी आज समस्त भूमण्डल में प्रशंसा हो रही है। जो विचार डारविन और स्पेन्सर ने योरप की सभ्यता में अब निकाले हैं, उन्हें कपिल मुनि सहस्रों वर्ष पहले लिख चुके हैं। इस विचार का नाम परिणामवाद (Evolution theory) है। विज्ञान शास्त्र ने न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद (atomic theory) का सर्वथा खंडन कर डाला है। सिद्ध कर दिया है कि जिनको स्थूल परमाणु कहते हैं वे वास्तव में कोई जड़ पदार्थ नहीं हैं, न वे संसारेत्पत्ति में मूल कारण हो सकते हैं। संसार में तो सिवा शक्तिविकारों (Ethereal currents) के और कोई जड़ पदार्थ (matter) मूल कारण नहीं दिखाई देता है। सांख्य ने प्रकृति के शक्तिविकारों द्वारा ही संसारेत्पत्तिबताई है। यही विचार आधुनिक विज्ञान शास्त्र (Science) का भी है। इन सब विचारों के देखते सांख्यको न्याय-वैशेषिक से उच्चतर पदवी देनी होगी। अतएव सांख्य दर्शन की ज्ञानविचार में तीसरी श्रेणी है।

अब वेदान्त देखिये। जो उत्तरोत्तर विचारसंबंधन न्याय-वैशेषिक और सांख्य-सिद्धान्तों में दिखाई देता है वही सांख्य और वेदान्तसिद्धान्तों में है।

चार्वाकों ने शरीर ही को आत्मा माना, न्याय-वैशेषिक ने शरीर से पृथक् आत्मा मानी, परन्तु उसे सुख दुःखादि का भोक्ता बताया। सांख्य ने पुरुषको इन उपाधियों से रहित माना और जिसे जीव कहा गया था उसका काम लिङ्ग शरीर से लिया। वेदान्त ने इस विचार को उच्चतम श्रेणी पर पहुँचा दिया। जो त्रुटि सांख्य के विचार में रह गई थी उसका वेदान्त ने संशोधन कर दिया। त्रुटि यह थी कि जब पुरुष देश-काल-कारण-रहित है, तो ऐसे पुरुष अनेक नहीं हो सकते हैं। ऐसा तो एकही पुरुष हो सकता है; इसलिए वेदान्त ने आत्मा एकही मानी है। इस प्रकार सांख्य की त्रुटि दूर हो गई। जब आत्मा एक मान ली और उसके लक्षण देश-काल-कारण-उपाधि रहित मान लिये, तो उसमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रहा। दोनों एकही हैं, केवल दृष्टिस्थान का अन्तर ही है।

ईश्वर विषय में देखिये। चार्वाक तो ईश्वर को मानते ही नहीं थे। न्याय-वैशेषिक ने सगुण ईश्वर का प्रतिपादन किया। सांख्य ने सगुण ईश्वर की असिद्धि मानी। वेदान्त ने निर्गुण ब्रह्म का विवेचन किया। वेदान्त का ब्रह्म ऐसा है जो सब चराचर का आधार और सर्वव्यापी है। ऐसे ब्रह्म के बिना जगत् का परिमाणुओं अथवा प्रकृति से बनना और चलना असम्भव है। जो कुछ शक्तियाँ संसार में दिखाई देती हैं, इसी की सत्तासे हैं। निर्गुण ब्रह्म की असिद्ध करना नितान्त असंभव है।

सांख्यानुसार संसारोत्पत्ति मानते हुए वेदान्त ने सांख्य की इस त्रुटि को दूर कर दिया कि प्रकृति स्वतंत्र सत्तावाली है। प्रकृति केवल माया है, और इसकी मनोमय सत्ता है। मनसे पृथक् माया की कोई सत्ता नहीं है। माया, न सत्य है और न असत्य है, अनिर्वचनीय है। अविद्या इसका मूल कारण है और इस लिए संसार स्वप्नवत् है। अविद्या के हटने पर संसार प्रपञ्च भी लोप हो जाता है। अंगरेज़ी सुशिक्षितों को इस अवसर पर वरकले तत्त्ववेत्ता का स्मरण हो उठेगा। इस महानुभाव ने बड़ी विद्वत्ता और चानुर्य से संसार को असार सिद्ध कर

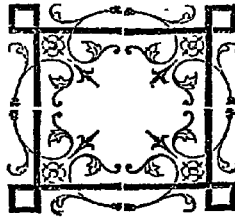
दिखाया है। पूर्वोक्त दर्शनसिद्धान्तसमालोचना से ज्ञात हुआ होगा कि चार्वाकों का मत प्रानशास्त्र की सबसे नीची श्रेणी पर है, न्याय-वैशेषिक दर्शन उससे ऊंची श्रेणी पर है। सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त इससे भी ऊंचे हैं और वेदान्त दर्शन का गौरव और महत्त्व सबसे ऊंचा है। वेदान्त इसीलिये इस नाम से पुकारा जाता है। वेदान्त का अर्थ वेद के अन्तिम सीमावाले सिद्धान्तों से है। इस समालोचना से निम्न लिखित अनुमान निकलते हैं:—

१—दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे इन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं। ये सिद्धान्त उत्तरोत्तर गौरवशाली होते गये हैं। न्याय-वैशेषिक के विचारों से सांख्य के विचार अधिक महत्त्व के हैं, और सांख्य से वेदान्त के। इन शास्त्रों के सिद्धान्तों में परस्पर वही सम्बन्ध है जो मनुष्य की बाल तरुण और परिपक्व अवस्था में होता है। बालक, तरुणमनुष्य का विरोधी नहीं है, न तरुणमनुष्य, गाढ़तरुण और परिपक्व अवस्थावाले मनुष्य का विरोधी है। यही सम्बन्ध इन दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों में है। ऐसा कहना कि दर्शन शास्त्र परस्पर विरुद्ध हैं, निरर्थक ही नहीं है, किन्तु मूर्खता प्रकट करना है।

२—द्वैत (Dualism) और अद्वैत (Monism) का विवाद जो चलता आता है सर्वथा निरर्थक है; क्योंकि न्याय-वैशेषिक मतवाले जीव के कुछ और लक्षण मानते हैं और वेदान्ती कुछ और। जीव और ईश्वर एक नहीं हो सकते, न लिङ्ग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर और ब्रह्म एक हो सकते हैं। आत्मा और ब्रह्म एक हो सकते हैं।

यदि जीव और आत्मा के एकले लक्षण माने जायँ और जीव-ईश्वर अथवा आत्मा ब्रह्म को एकही बताया जाय, तो विवाद हो सकता है। जब न्याय-वैशेषिक जीव को सुख, दुःख, इच्छा-द्वेषादि का विषय मानते हैं और वेदान्ती जीव अथवा आत्मा को इन सब दोषों से रहित मानते हैं, तो ऐसी अवस्था में विवाद होना सम्भव नहीं है। जो लोग

ऐसा विवाद करते हैं उन्हें जीव और आत्मा के लक्षण नहीं मालूम हैं। यदि यह परिभाषा जानने पर भी कलह करते रहे हैं, तो केवल पक्षपात और वितण्डा ही है। सिद्धान्त समझने पर तो न्याय-वैशेषिक मतानुयायी यह कह सकते हैं कि जीव और ईश्वर पृथक् २ हैं; परन्तु आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं और एकही हो सकते हैं। वेदान्ती यह कह सकते हैं कि सूक्ष्म शरीर जो नैयायिकों के जीव के बराबर है, ब्रह्म से पृथक् है और पृथक् ही हो सकता है, और इसी तरह नैयायिकों का जीव और ईश्वर पृथक् २ हो सकते हैं। परन्तु आत्मा और ब्रह्म जिन के लक्षण नैयायिकों के जीव और ईश्वर से सर्वथा भिन्न हैं, कदापि दो नहीं हो सकते। वे दोनों एक ही हैं और एकही हो सकते हैं।



वेदान्तदर्शन

वेदोंका ज्ञानकारण, उपनिषद् रूपमें है । इन ज्ञानविचारों को वेदान्त कहते हैं । इनको व्यासजी ने सूत्रबद्ध किया है । ये सूत्र वेदान्त सूत्र अथवा वादरायण सूत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन सूत्रों पर कई विद्वानों ने भाष्य किए हैं; जैसे श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य माधवाचार्यादि । इनमें से शंकर भाष्य अति प्रसिद्ध है । वेदान्त का सारांश निम्न लिखित एक श्लोक में है:-

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्निथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

अर्थ—जो कोटि ग्रन्थों से कहा गया है वह मैं आधे श्लोक में ही कहता हूँ, और वह यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ब्रह्म से अलग नहीं है । जैसे प्रकाश के साथ अन्धकार मिला है वैसे ही ज्ञान से अज्ञान मिला है । यह अज्ञान जिसे अविद्या अथवा माया कहते हैं, संसार का कारण है । वेदान्तदर्शन का मुख्योद्देश जीव की अविद्या दूर करना है ।

ब्रह्म

ब्रह्म, निरन्तर, सत्य, अन्वय, अखण्ड, सर्वव्यापी, समस्त चराचर सृष्टि का एक मूलाधार तत्त्व है । अपने अव्यक्त रूपमें सब गुणों से वर्जित है, और इसके विषयमें "नैतिनैति" के सिवा और कुछ नहीं कह सकते हैं । सच्चिदानन्द विशेषण भी इस अव्यक्त ब्रह्म के सगुण स्वरूप का ही सूचक है । वास्तव में ब्रह्म अव्यक्त और निर्गुण ही है; परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसका व्यक्त और सगुण रूप भी मानते हैं । वेद और उपनिषदों में दोनों रूपों का विवरण है ।

अव्यक्त ब्रह्म ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमन्वयं तथाऽरसान्नित्यमगन्ध
वञ्चयत् । अनाद्यनन्तम् महतः परन्धुवं निचाय्य-
तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

(कठोपनिषत्)

भाषार्थ—(ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रहित है, और उसका क्षय भी नहीं होता है— इसीसे नित्य है और अनादि अनन्त है— प्रकृति से परे है अर्थात् शुद्ध ब्रह्मत्व और आनन्द रस रूप है और सदैव स्थित है; मनुष्य ऐसी आत्मा को जान कर मृत्यु के मुख से कूट जाता है ।

सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्य
स्थूलमनएव ह्रस्वमदीर्घमलिहितमस्नेहमच्छायमत-
मोऽवाश्वानाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्र
मवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमात्रमनन्तर बाह्यं
न तदश्नाति किञ्चनन तदश्नाति कश्चन ॥

(ब्राह्मणोपनिषत्)

भाषार्थ—वह (याज्ञवल्क्य) बोले, हे गार्गी ! ब्राह्मण इसको अक्षर अर्थात् अक्षरही कहते हैं, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लम्बा है, न चौड़ा है, न लाल है, न विकना है, न छाया है, न अंधेरा है, न वायु है, न आकास है, न संगी है, न रस है, न गंध है, न तेज है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुखमात्र है, न भीतर है, न बाहर है, न कोई वस्तुखाता है, न कोई उसको खा सकता है ।

यत्तद्दृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तद्पाणि
पादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूत
योनिं परिपश्यन्ति धीराः । (मुण्डकोपनिषत्)

भावार्थ—वह दिखाई नहीं देता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई जन्मगोत्र है, न शुष्लादि वर्ण है, न उसके नेत्र हैं, न कान, न हाथ, न पैर, वह नित्य है, व्यापी है, सर्वत्र वर्तमान है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, उसका नाश नहीं है । धीमान् मनुष्य उसको सब भूतों का आदि कारण जानते हैं ।

व्यक्तब्रह्म ।

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकरूपम् बहुधा यः
करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं
शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥ (कठोप०)

भावार्थ—अद्वितीय, सर्व जगत को अपने आधीन में रखनेवाला, सम्पूर्ण प्राणी मात्रमें स्थित अर्थात् परमात्मा एक शुद्धचित्त स्वरूप को अनेक प्रकार का करता है; इस प्रकार जो पुरुष उसको आभास रूप से हृदय में स्थित जानते हैं, उन पुरुषों ही को अनन्त सुख मिलता है ।

तदेनत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाःसहस्रशः
प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽ चाराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति ॥ (मुण्डकोप०)

भाषार्थ—यह ही सत्य स्वरूप है। जैसे जलती हुई अग्निले एक रूप के सहस्रों स्फुलिङ्ग निकलते हैं, हेसौम्य ! वैसेही उस विना नाशवान् (ब्रह्म) से अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लौटकर लीन होजाते हैं।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्चवेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तारात्मा ॥ (मुण्डकोप.)

भाषार्थ—जिसका सिर अग्निहै, जिसकेनेत्र चन्द्र सूर्य हैं, जिसकी वाणी वेद है, जिसके कान दिशापं हैं, जिसका प्राण वायु है, जिसका हृदय संसार है, जिसके चरणों से पृथ्वी है। वहही सब जीवों के भीतर रहने वाला आत्मा है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्रक्षत्रः सहस्रपात् सभूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्टिदृशांगुलम् ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत्)

भाषार्थ—इस पुरुष के हजारों सिर, हजारों पैर हैं। सब भूमि में व्यापक होकर दस अंगुल ऊपर हृदय में ठहरा हुआ है।

स एव काले भुवनस्यगोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषुगूढः । यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयोदिवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्चिन्नन्ति ॥
(श्वेताश्वतरोप०)

भाषार्थ—जो उचित समय में संसार की रक्षा करनेवाला है। जो सब जीवों में छिपा हुआ संसार का अधिपति है, जिसमें ब्रह्मरूपि और देवता ध्यान युक्त हैं—ऐसे ब्रह्म को जानकर मृत्यु के फन्दे को (मनुष्य) काट डालता है।

सविश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकाली गुणी
सर्वविद् यः। प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः स संसार मोक्ष
स्थितिबन्धहेतुः ॥ (श्वेताश्वतरोप०)

भाषार्थ—वह विश्व का कर्ता है, विश्व का जानने वाला है, जीवात्मा के कारण का जानने वाला, कालका अधिपति गुण संयुक्त है, सब जानने वाला है। प्रकृति और चेतन का स्वामी है। गुणोंका ईश है। मोक्ष स्थिति और बन्ध इन सबका हेतु है।

यह ब्रह्म, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, सबसे परे है और तर्क अथवा बुद्धि चातुर्य से अलभ्य है; जैसे कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्या न मेधया न बहूना श्रुतेन।
यमेवैष दृशुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विद्वशुतेतनुं
स्वाम् ॥ (कठोप-)

भाषार्थ—यह आत्मा न वेदाध्ययन से, न बुद्धिसे, न अनेक शास्त्रों के पढ़ने से प्राप्त होती है। जिस पर वह कृपा करती है—उसी को प्राप्त होती है।

आत्मा ।

जीव अथवा आत्मा वास्तव में ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्म के सिवा और कोई वास्तविक सत्यवस्तु नहीं है। जब आत्मा ब्रह्म ही है, तो

निश्चय एक ही है—अनेक नहीं हैं। जो ब्रह्मके लक्षण हैं, वे ही आत्माके लक्षण हैं। जो भिन्नता दिखाई देती है, उस का कारण अविद्या है। अध्यारोप नियम से आत्मा में जगत् बन जाता है और अपवाद नियम से जगत् दूर होकर केवल नित्य शुद्ध आत्मा ही रह जाती है। आत्मा ब्रह्म का दूसरा नाम है; इसलिये जो कुछ है वह ब्रह्म ही है।

अविद्या (माया)

ऐसी वस्तु जो सत् है, न असत् है, बल्कि अनिर्वचनीय है, और जिस में सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण हैं और जो ज्ञान की विरोधी है और केवल भान रूप ही है, वही माया है।

जबतक ये तीनों गुण एकसे रहते हैं अर्थात् साम्यावस्थामें होते हैं, तो जगत् भी नहीं होता है। जब तमोगुण की अधिकता होती है, तो इस में लोभ होता है, और इसका परिणाम जगतोत्पत्ति है।

माया में दो शक्तियाँ हैं :—

१—आवरण शक्ति

२—विक्षेप शक्ति

आवरण शक्ति से वस्तु का यथार्थ रूप ढ़क जाता है और विक्षेप शक्ति से मिथ्या कल्पना हो जाती है। वादल का टुकड़ा सूर्य के सामने आनेसे सूर्यको दृष्टिसे छिया लेता है; इसी तरह आवरण शक्तिकेद्वारा आत्मा नहीं दिखाई देती है। अंधरेमें सूखे वृत्तको देखकर भूतकी कल्पना हो जाती है। इसी तरह विक्षेप शक्ति से आत्मा पर मिथ्या जगत् की कल्पना होती है।

कोई मनुष्य अंधरेमें एक कोठेमें गया। वहाँ एक रस्सी का टुकड़ा पड़ा था। उसे देखकर वह डर गया और उसे सर्प जाना। बाहर आकर एक दीपक लिया और फिर कोठेमें प्रवेश किया, तो प्रकाश से ज्ञात हुआ कि वह रस्सी का टुकड़ा है—सर्प नहीं।

इस उदाहरणमें रस्सीका असली रूप दिखाई नहीं देना, एक बात है। रस्सीपर सर्पकी कल्पना होना, दूसरी बात है। प्रकाशसे रस्सीका असली रूप ज्ञात होना, तीसरी बात है।

पहलीका कारण आवरण शक्ति है। दूसरीका कारण विक्षेप शक्ति और तीसरीका, वेदान्त शास्त्रका ज्ञान।

इसी प्रकार समझना चाहिये कि माया अपनी इन दो शक्तियोंद्वारा आत्माको छिपाकर, उसपर जगत्की कल्पना कर देती है। इसलिये जगत् वास्तवमें सत्य नहीं है; परन्तु वह व्यावहारिक सत्ता रखता है।

अब यह लिखते हैं कि जगत्की उत्पत्ति किस प्रकार माया से होती है। पहले मायाका कारण, शरीर है, अर्थात् जितनी माया है वह सब ब्रह्म के कुछ भागसे मिली है जिसमें सत्वगुण प्रधान है।

यह शरीर संसारभरकी वस्तुओंका भांडार है। इस माया पुञ्जके साथ जो ब्रह्मका भाग मिला है, वह ईश्वर कहलाता है। यह ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और सबका नियन्ता है।

इस शरीरमें सत्वगुण प्रधान है; इसलिये यह आनन्दसे परिपूर्ण है। इसे आनन्दमय कोप भी कहते हैं।

इसकी अवस्था सुषुप्ति, अर्थात् स्पन्दरहित निद्रा आनन्दकी है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंका, जिनका भाग वर्णन होगा, यह लयस्थान है, अर्थात् कारण शरीर इनके परे है।

यह जगत् भरका कारण शरीर हुआ। इसी तरह प्रत्येक मनुष्यका कारण शरीर समझना चाहिये। इस कारण शरीरका चैतन्य, जो ईश्वरका एक भाग है, प्राज्ञ कहलाता है, और मायाकी मलिन उपाधियों के कारण अल्पज्ञ और अनीश्वर है।

इसी शरीर के कारण अपनेपनकी कल्पना होती है। जैसे समस्त जगत्का कारणशरीर आनन्दमयकोष कहलाता है, वैसे ही यह भी

कहलाता है। इस की अवस्था भी सुप्तिति है और जीवके सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का लयस्थान है।

समस्त जगत्का कारणशरीर और एक व्यक्तिका कारणशरीर अलग अलग नहीं हैं, किन्तु एक ही हैं। यह केवल दृष्टि का ही अन्तर है। वन और वृक्ष पृथक् पृथक् नहीं हैं। जलाशय और जल पृथक् पृथक् नहीं हैं। जब वृक्षोंको पृथक् पृथक् देखते हैं, तो वे वृक्ष हैं, और जब समूह रूपसे तो वन है।

इसी तरह जलाशय और जलके उदाहरण को समझिये। सब जीवों को एकत्र कर देखना, समष्टि है, और उन्हीं जीवों को पृथक् पृथक् कर देखना, व्यष्टि है।

वृक्षों के समूहको वन कहना, समष्टि रीतिसे है और वनके अलग अलग अंशोंको वृक्ष कहना, व्यष्टि रीति है। इस तरह जब सब माया पुंजका ब्रह्म चैतन्यसे मिला हुआ एकत्र देखते हैं, तो समष्टि है, और जब प्रत्येक शरीरको पृथक् पृथक् देखते हैं, तो व्यष्टि है। ईश्वर और प्राज्ञ एकही हैं। ईश्वर समष्टिरूपसे है, और प्राज्ञ व्यष्टि रूपसे।

जैसे वन और वृक्षोंमें सब आकाश नहीं लय हो जाता है, किन्तु वाहुर भी बहुत कुछ बच रहता है; इसी तरह सब मायापुंजमें सब ब्रह्म नहीं आ जाता है, बहुत कुछ बाहरभी रह जाता है। ब्रह्मका केवल एक अंश ही मायासे मिला है। जो अवशिष्ट ब्रह्म रहा, उसकी अवस्था तुरीया या तुर्य है।

जगत्की उत्पत्ति ब्रह्मसे इसीतरह है जैसे मकड़ी के जालेकी उत्पत्ति मकड़ीसे। मकड़ी, जाले के निमित्त और उपादन, दोनों कारण है। तन्तुको बनती हुई निमित्त कारण है और तन्तुओंका उसके शरीरसे पैदा होना, उपादान कारण है। ऐसे ही आवरण और वित्तेप शक्तियोंद्वारा अज्ञान-युक्त चैतन्य अपनी प्रधानतासे जगत्का निमित्त कारण है, और अपनी उपाधियोंकी प्रधानतासे उसका उपादन कारण है।

उत्पत्तिक्रम

तमोगुणप्रधानविक्षेपशक्तिवालेअज्ञानयुक्तचित्तन्यसे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी।

संसारमें जड़ताकी प्रधानता दिखाई देनेसे ज्ञात होता है कि इसमें तमोगुणकी आधिक्यता है। ये पाँचों स्थूल तत्त्व हैं और इनसे सूक्ष्म शरीर बना है।

सूक्ष्म शरीरके १७ अवयव हैं, अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ वायु, मन और बुद्धि।

अन्तः करणकी वृत्ति जो निश्चय करती है, बुद्धि है।

अन्तः करणकी वृत्ति जिसमें संकल्प विकल्प होते हैं, मन है।

अन्तः करण अजुसंधान और अभिमान युक्त है।

सूक्ष्म शरीरमें तीन कोप हैं—(१) विज्ञानमय कोप, (२) मनोमय कोप और (३) प्राणमय कोप।

बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियां मिलकर विज्ञानमय कोप है।

मन और कर्मेन्द्रियां मिलकर मनोमय कोप है।

पंच प्राण और कर्मेन्द्रियां मिलकर प्राणमय कोप है।

विज्ञानमय कोप अपनेको कर्ता मानकर और सुख दुःखका भोक्ता समझकर, इसलोक और परलोकमें आता जाता रहता है; वही जीव है। इन तीनों कोपोंमें विज्ञानमय कोष, ज्ञान-शक्तिमान् होनेसे कर्ता है, मनोमय कोष, इच्छा-शक्तिमान् होनेसे कारण रूप है और प्राणमय कोष, क्रिया शक्तिमान् होनेसे कार्यरूप है।

इन तीनों कोपोंसे संयुक्त सूक्ष्म शरीर आवागमनमें साथ रहता है।

इन शरीरों के चैतन्य को समष्टिरूप से सूत्रात्मा कहते हैं । इसे हिरण्यगर्भ अथवा प्राण भी कहते हैं; क्योंकि वह सब सूक्ष्म शरीरों में प्रविष्ट है और तीनों कोपोंमें, जिनसे ज्ञान, इच्छा और क्रिया हो सकती हैं, विद्यमान है । इसकी अवस्था स्वप्न है ।

इसी चैतन्यको व्यष्टिरूपसे देखा जाय तो तेजस है । सूत्रात्मा और तेजस मन-विकारों के सूक्ष्म विषयोंका अनुभव कर सकते हैं ।

जैसे वन और वृक्षों में भेद नहीं है, वैसेही सूत्रात्मा और तेजस में भेद नहीं है ।

स्थूल शरीर ।

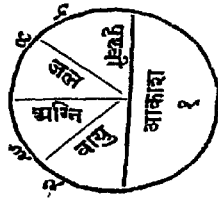
सूक्ष्म तत्त्व वे हैं जो पाँचों सूक्ष्म तत्त्वोंके मेलसे बने हैं । इन पाँचोंके मिलाने को पंचीकरण कहते हैं ।

पंचीकरण समझने को नीचे लिखा उदाहरण देखिये ।

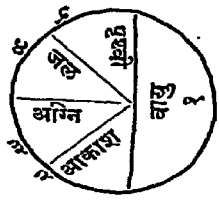
पंचीकरण

का

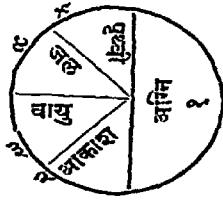
उदाहरण ।



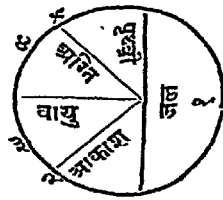
पंचीकृत
आकाश



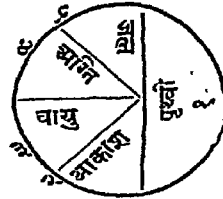
पंचीकृत
वायु



पंचीकृत
अग्नि



पंचीकृत
जल



पंचीकृत
पृथ्वी

प्रत्येक तत्त्वका अर्द्ध भाग लो और बाकी के अर्द्ध भागकी जगह अवशिष्ट चारों तत्त्वोंके अर्द्धभागों के चौथाई चौथाई भाग मिलाओ, तो एक तत्त्वमें पाँचों तत्त्व मिल जायँगे। दूसरे शब्दों में यह कहना है कि पंचीकृत तत्त्वोंमें से प्रत्येक तत्त्व में $\frac{1}{2}$ अपना तत्त्व है और $\frac{1}{2}$ प्रत्येक बाकी के चार तत्त्वों का।

जैसे पंचीकृत आकाश तत्त्व में $\frac{1}{2}$ आकाश तत्त्व, $\frac{1}{2}$ वायु, $\frac{1}{2}$ अग्नि, $\frac{1}{2}$ जल और $\frac{1}{2}$ पृथिवी तत्त्व हैं।

इन पंचीकृत तत्त्वोंसे सब लोक और सब स्थूल शरीर उत्पन्न हुए हैं। जो खाने और पीने की वस्तुएं हैं, वेभी इन्हीं से निर्मित हैं।

स्थूल शरीर चार प्रकारके हैं।

१. जरायुज—जो गर्भसे उत्पन्नहों; जैसे मनुष्य पशु आदि।
२. अण्डज—जो अंडेसे उत्पन्न हों; जैसे पक्षी सर्पादि।
३. स्वेदज—जो पसीने से उत्पन्न हों; जैसे जूं, मच्छंड आदि।
४. उद्भिज—जो पृथिवी को फोड़कर उत्पन्नहों; जैसे लता वृक्षादि।

इन सब स्थूल शरीरों को भी समष्टि और व्यष्टि दृष्टि से देखिए।

जो चैतन्य, सब स्थूल शरीरोंसे मिला है, वैश्वानर अथवा विराट कहलाता है। यह शरीर अन्नमयकोष है और इसकी अवस्था जागृत है।

जो चैतन्य, प्रत्येक व्यक्ति शरीर से मिला है, विश्व कहलाता है। इसे भी अन्नमय कोष कहते हैं और इसकी भी अवस्था जागृत है।

विराट और विश्व, सूक्ष्म शरीरों के द्वारा सब स्थूल पदार्थों का अनुभव कर सकते हैं।

सारांश।

ब्रह्मका भाग जो समस्त माया अर्थात् अज्ञानसे मिला है और जिसके कारण संसारकी उत्पत्ति है; तीन शरीरों में विभक्त है, अर्थात्:—

कारण शरीर—इसमें समस्त माया पुञ्ज शामिल है। जो चैतन्य इसमें मिला है, उसे समष्टि दृष्टिसे ईश्वर और व्यष्टि दृष्टिसे प्राण कहते हैं। इस शरीर को आनन्दमयकोप भी कहते हैं, और इसकी अवस्था सुषुप्ति है।

सूक्ष्म शरीर—यह शरीर शुद्ध सूक्ष्म अपञ्चीकृत तत्त्वोंका बना है और १७ अवयव रखता है; अर्थात् ५ ज्ञानन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ वायु, मन और बुद्धि। जो चैतन्य इसमें मिला है, उसे समष्टि दृष्टिसे हिरण्य गर्भ अथवा सूत्रात्मा अथवा प्राण कहते हैं और व्यष्टि दृष्टिसे तेजस। इसमें विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय तीन कोप हैं। इसकी अवस्था स्वप्न है।

स्थूल शरीर—यह शरीर पञ्चीकृत तत्त्वोंका बना है। इसके चैतन्य को समष्टि दृष्टिसे वैश्वानर और व्यष्टि दृष्टिसे विश्व कहते हैं। इस शरीरको अन्नमय कोप भी कहते हैं। इसकी अवस्था जागृत है।

चौथी अवस्था वह है जिसमें शुद्ध मायारहित ब्रह्म है। उसे तुर्य अथवा तुरीय अवस्था कहते हैं।

अध्यारोप और अपवाद।

अध्यारोप—सच्चिदानन्द ब्रह्म वस्तुमें माया पुञ्ज अवस्तु का आरोप करना, अध्यारोप है।

उदाहरण—किसी रस्सीके टुकड़ेको अंधेरेमें सर्प समझना, अर्थात् रस्सीके वास्तविक रूपको नहीं जानकर उसमें सर्पकी मिथ्या कल्पना करना; इसी तरह शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्ममें संसारकी कल्पना करना, अध्यारोप है।

अपवाद—अध्यारोप के विपरीत, अर्थात् असत्यको हटाकर सत्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना, अपवाद है। इस नियमसे यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि संसार असत्य है—केवल ब्रह्मही सत्य है।

संसार, सत्य वस्तु ब्रह्म का विकार नहीं, किन्तु विवर्त है, जो देखने मात्रको ही है—वास्तवमें कुछ नहीं है।

अध्यारोपसे संसारकी उत्पात्ति आदिका ज्ञान प्राप्त होता है और अपवाद से ब्रह्म का।

पहले ही कह आये हैं कि ब्रह्मसे मिली हुई त्रिगुणात्मिक मायासे संसार उत्पन्न हुआ है। पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायु से अग्नि, अग्निसे जल, और जलसे पृथिवी। इसी तरह और क्रम है।

यह अध्यारोप नियम है, अर्थात् ब्रह्ममें अवस्तु आरोप करना है।

इसके विपरीत समझना कि पृथिवी, जलसे उत्पन्न हुई, जल अग्निसे हुआ, अग्नि वायुसे हुई, वायु आकाशसे हुआ और आकाश मायासे उत्पन्न हुआ, और माया असत्य है—केवल ब्रह्मही ब्रह्म है। यह अपवाद है।

अध्यारोपको Synthetic method और अपवाद को Analytical method कह सकते हैं।

अविद्याभ्रम दूर करनेके उपाय।

लिख आये हैं कि आत्मा ब्रह्मही है, अन्य नहीं; इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। अविद्याकी उत्पन्नकी हुई उपाधियों से उसका वास्तविक स्वरूप छिपा हुआ है। यदि उपाधियाँ हट जायँ, तो शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म रहजाय। इन उपाधियों के हटानेका नाम ही आत्मशुद्धि है, जिसके ये साधन हैं:—

१ श्रवण २ मनन ३ निदिध्यासन ४ समाधि

श्रवण।

छः साधनों द्वारा सब वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें समझना, श्रवण है।

छः साधन ये हैं:—

१ उपक्रमोपसंहारौ २ अभ्यास ३ अपूर्वता ४ फल ५ अर्थवाद
६ उपपत्ति ।

१. उपक्रमोपसंहारौका अर्थ प्रकरणका आरंभ और अंत है । जो विषय किसी पुस्तक में प्रतिपादित होता है, उसका वर्णन प्रकरण के आरंभ और अंतमें होता है; जैसे छान्दोग्य उपनिषत्के छठे प्रपाठके आदि और अंतमें आद्वितीय ब्रह्म वस्तुका इस भांति प्रतिपादन है—“एकमेवाद्वितीयम्” “पेतदात्ममिदं सर्वम्” ।

२. अभ्यास—जिस वस्तुका प्रतिपादन प्रकरणमें है, उसका बार बार प्रतिपादन उस प्रकरणके मध्यमें होना; जैसे उसी छान्दोग्य उपनिषत् प्रपाठमें “तत्त्वमसि” वाक्य नौ दफ्ता आया है ।

३. अपूर्वता—प्रकरणमें जिस वस्तुका प्रतिपादन है वह किसी तरह इन्द्रियोंका विषय नहीं है; जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् के उसी प्रपाठ में सिद्ध किया है ।

४. फल—प्रकरणमें जो आत्मज्ञान वा उसका अनुष्ठान प्रतिपादित हो, उसीका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयोजन । उदाहरणके लिए छान्दोग्य उपनिषत्का छटा प्रपाठ देखिये ।

५. अर्थवाद—प्रकरण में जिस विषय का प्रतिपादन हो उस की प्रशंसा स्थान स्थान पर करना । छान्दोग्य उपनिषत् का छटा प्रपाठ देखो ।

६. उपपत्ति—प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय के अर्थसाधन में युक्तियों का बार २ कहना; जैसे उसी प्रपाठमें मृत्पिंडसे समस्त मृन्मय वस्तुओं का ज्ञान बताना ।

मनन ।

जिस अद्वितीय ब्रह्म वस्तु का अध्याय किया है, उस का निरन्तर चिन्तन वेदान्त अर्थानुसार करना, मनन है ।

निदिध्यासन ।

विजातीय देहादि वस्तुओं को छोड़ कर अद्वितीय ब्रह्म सम्बन्धिनी वस्तुओं के प्रत्यय प्रवाह का नाम निदिध्यासन है ।

समाधि ।

समाधि दो प्रकार की है—१ सविकल्प और २ निर्विकल्प ।

सविकल्प समाधि—जिस में ज्ञाता और ज्ञानादि के विकल्पलय की अनपेक्षा हो और अद्वितीय ब्रह्म के आकार की आकारता हो । उस चित्तवृत्तिके अवस्थानका नाम सविकल्प समाधि है ।

इस समाधिमें चित्तकी वृत्ति को ब्रह्म में लयकर देना है और इस का कुछ विचार नहीं रखना है कि ज्ञाता और ज्ञान में भेद है या नहीं ; जैसे मिट्टीसे बनेहुए हाथी आदिका ज्ञान भी हो; परन्तु सब मिट्टी ही दिखाई दे । इसी तरह चाहे द्वैत भी भान होता हो; परन्तु सब अद्वितीय ब्रह्म ही दिखाई दे, वह सविकल्प समाधि है ।

निर्विकल्प समाधि—बुद्धिकी वृत्तिका अद्वितीय ब्रह्ममें उसी का आकार बनकर एक भावसे अवस्थान होना निर्विकल्प समाधि है । इस में ज्ञाता ज्ञानादि के भेद की कोई अपेक्षा नहीं रहती है; जैसे लवण पानी में मिलकर पानीका रूप ही हो जाता है और पानी ही पानी दिखाई देता है; इसी तरह ब्रह्ममें चित्तवृत्ति लीन हो जानेसे ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता है । इस अवस्था और सुषुप्ति अवस्था में यह भेद है कि सुषुप्ति अवस्थामें तो चित्तवृत्ति विद्यमान रहती है और निर्विकल्प समाधि अवस्था में नहीं । दोनों में चित्तवृत्तिका भान नहीं होता है—केवल चित्तवृत्ति रहने और नहीं रहनेका ही भेद है :—

निर्विकल्प समाधि के आठ अङ्ग और हैं :—

१ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६ धारणा
७ ध्यान ८ समाधि ।

(१००)

यम ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अर्थात् चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और परिग्रह (दानादि नहीं लेना); ये पांच यम हैं ।

नियम ।

शौच (शुद्धि रखना) संतोष, तप, स्वाध्याय (जप) और ईश्वर पूजन ; ये पांच नियम हैं ।

आसन ।

आसन अनेक हैं; जैसे पद्मासन, स्वस्तिकासन, अर्द्धासन आदि ।

प्राणायाम ।

रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणनिग्रह के उपाय हैं ।

प्रत्याहार ।

इन्द्रियोंको अपने अपने विषय में विचरने से अलग करना, प्रत्याहार है ।

धारणा ।

आद्यतीय ब्रह्ममें इन्द्रियोंका लगाना, धारणा है ।

समाधि ।

सविकल्प समाधि का पहले विवरण हो चुका है । निर्विकल्प समाधि में चार चीज़ें विघ्न डालनेवाली हैं; अर्थात् लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ।

अखण्ड ब्रह्ममें चित्तवृत्तिके नहीं लगनेसे निद्रा आना, लय है । अखण्ड ब्रह्ममें चित्तवृत्तिका नहीं लगना, किन्तु और किसी चीज़में लग जाना, विक्षेप है ।

लय विक्षेप भी नहीं हो, तथापि चित्तवृत्ति का रागादि वासनाओं से अखण्ड ब्रह्मपर नहीं लगना, कषाय है ।

अखण्ड ब्रह्ममें चित्तवृत्ति नहीं लगनेसे सविकल्प आनन्दका स्वाद आना, अथवा समाधि के आरम्भ में सविकल्प आनन्द का स्वाद आना-रसास्वाद है।

जब इन विघ्नोंसे बचकर चित्त निर्वात दीपके समान अचल होकर अखंड चैतन्यमात्र उद्वरता है, तब निर्विकल्प समाधि होती है।

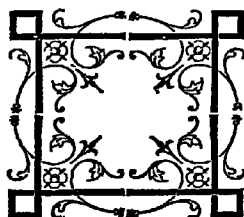
जीवनमुक्त

जो मनुष्य इसी देहमें अज्ञानसे बने हुये कर्म संशयादि को छोड़कर बन्धनरहित होकर अखंड ब्रह्ममें ही तत्पर होजाता है और अखंड ब्रह्म और अपनेमें कुछ भेद नहीं समझता है; क्योंकि अखंड ब्रह्मको अपनी आत्मामें साक्षात् कर लेता है, वह जीवनमुक्त है।

भिद्यते हृदयग्रन्थि शिख्यन्ते सर्व संशयाः।

जीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

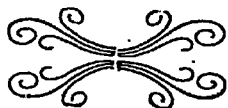
उस परब्रह्मके देखनेपर हृदयकी गांठ टूट जाती है, सब संशय जाते रहते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।



उपनिषत्

चारों वेदों के दो भाग हैं, कर्म काण्ड और ज्ञान काण्ड। कर्म काण्ड का विषय वेदों के ब्राह्मणों में सम्यक् प्रकार वर्णित है और इन्हीं के आधारपर जैमिनिसूत्र, जिने पूर्व मीमांसा कहते हैं, लिखे गये हैं। ज्ञानका विषय उपनिषदों में बताया गया है, और इन्हीं के आधारपर व्यासजीने वेदान्त सूत्र रचे हैं। भगवद्गीता में कर्म काण्ड और ज्ञानकाण्ड-दोनोंका निर्देश है— ज्ञान काण्डका अधिकतर। गीता में ज्ञानका विषय उपनिषदों से ही लिया गया है; क्योंकि गीता के बहुत से श्लोक अक्षरशः उपनिषदों में मिलते हैं।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। ११६ उपनिषत् रूपे हुये भी मिलते हैं; परन्तु इनमें से मुख्य और प्राचीन उपनिषत् षारह ही हैं, अर्थात् बृहदारण्योपनिषत् ह्यान्दोग्योपनिषत् ईशोपनिषत्-कठोपनिषत्-केनोपनिषत्-प्रश्नोपनिषत्-माण्डूक्योपनिषत्-मुण्डकोपनिषत्-श्वेताश्वतापनिषत्-तैत्तिरीयोपनिषत्- ऐतरेयोपनिषत् और कौपीतक्योपनिषत्। आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? इन दोनों का क्या सम्बन्ध है? संसार क्या है और कैसे रचा गया और संसार दुःख से कैसे निवृत्ति हो सकती है? ये सब प्रश्न, इन उपनिषदों में उठे हैं, और इनके उत्तर बड़ी विद्वित्ता और गम्भीर गवेशया से दिये हैं। गीतामें भी ज्ञानसम्बन्धी विचार इन्हीं उपनिषदों के आधारपर हैं।



सांख्यदर्शन ।

सांख्यदर्शन के सिद्धान्त बड़े प्राचीन हैं और उपनिषदों में भी पाये जाते हैं; परन्तु इनको सुत्र बद्ध कर शास्त्र के रूप में धरना कपिल मुनि ही का काम है ।

सांख्यशास्त्र का उद्देश तीनों प्रकार के दुःखों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना है । इस प्राप्ति का साधन सांख्य के २५ तत्त्वों का पूर्ण ज्ञानप्राप्त करना है । ये तत्त्व इस भाँति हैं:—

- १ अव्यक्त
- २ बुद्धि
- ३ अहंकार
- ४—८ पाँच तन्मात्राएँ
- ९—१४ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
- १५—१८ पाँच कर्मेन्द्रियाँ
- १९ मन
- २०—२४ पाँच महाभूत
- २५ पुरुष

इनमें से पहले ८ प्राकृतिक तत्त्व कहलाते हैं, और पिछले १६, विकार ।

अव्यक्त—इसे प्रधान-अक्षर-प्रकृति-प्रसूता आदि भी कहते हैं । अव्यक्त का अर्थ है जो विकसित नहीं हुआ है ।

प्रकृति की बह दशा, जो संसारोत्पत्तिके पूर्व थी, अव्यक्त थी, अर्थात् प्रकृति का विकास नहीं हुआ था—अव्यक्त दशा में प्रकृति अनादि अनन्त है, और यह किसी से उत्पन्न नहीं हुई है; परन्तु उत्पन्न करने की शक्ति रखती है। यह शक्ति सत्त्व-रज-तम तीन गुणों से संयुक्त है, जो उसमें सदैव विद्यमान हैं। जब तीनों साम्यावस्था में रहते हैं, तो संसार नहीं होता है;

परन्तु जब इनमें एक भी अधिक या न्यून होता है, तो संसारोत्पत्ति होने लगती है। संसार की सभी वस्तुओं में तीनों गुण व्याप्त हैं। प्रकृति से पहले बुद्धि उत्पन्न होती है।

बुद्धि—इसके दूसरे नाम हैं—महत्-प्रज्ञा-मति-धी। बुद्धि का धर्म-निश्चय करना है। इसके द्वारा निश्चय होता है कि यह मनुष्य है या पशु या वृक्षादि। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है।

अहंकार—जिस से अपनापन प्रकट हो; जैसे मैं सुनता हूँ, मैं जाता हूँ इत्यादि। अहंकार के बिना जीव में अपनापन नहीं आता है। अहंकार से तन्मात्राएं, ज्ञान और कर्मेन्द्रियां और मन उत्पन्न हुए हैं। सत्त्व प्रधान अहंकार से ११ इन्द्रियां और तमप्रधान अहंकार से ५ तन्मात्राएं उत्पन्न हुई हैं।

तन्मात्राएं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-इन पांचों के सूक्ष्म तत्त्वों का नाम तन्मात्राएं हैं। तन्मात्राओं से पंच महाभूत उत्पन्न हुये हैं।

ज्ञानेन्द्रियां—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण

कर्मेन्द्रियां—हस्त, पद, वाणी, गुदा और उपस्थ।

मन—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय-दोनों के लक्षण रखता है, और संकल्प विकल्प इस का धर्म है।

पांच महाभूत—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, तेज

पुरुष—पुरुष के यह लक्षण हैं—अनादि, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, साक्षी, निर्गुण, अजन्मा, असृष्टा, निर्मल, सब का ज्ञाता, दृष्टा। उस में आदि अन्त, मध्य नहीं है; इस कारण वह अनादि है। उस के क्षण्ड नहीं हैं, और इन्द्रियों से परे है; इस लिये वह सूक्ष्म है। आकाश के समान सर्वत्र व्यापक और असीम है; इसलिये वह सर्वव्यापी है। सुख दुःख

देखता है; इसलिये साक्षी है। उसमें सत्त्व, रज, तम-तीनों गुण नहीं हैं; इसलिये निर्गुण है। उसका जन्म नहीं हुआ और न हो सकता है; इसलिये अजन्मा है। प्रकृति के विकारों को देखता है; इसलिये दृष्टा है। साक्षी होने से उस में सुख दुःख का अनुभव कह सकते हैं; इसलिये भोक्ता है। निर्गुण और विरक्त होने से उसे कर्त्ता नहीं कह सकते हैं। सर्व पदार्थों के गुणों को जानता है; इसलिये सर्वज्ञ है। अच्छे बुरे कर्मों का सम्बन्ध उस से नहीं है; इसलिये निर्मल है। निर्वाज होने से असृष्टा है।

पुरुष एक नहीं अनेक हैं। इसके दूसरे नाम, आत्मा, पुमान्, क्षेत्रज्ञ, नर, कवि, ब्रह्मण, अक्षर, प्राण आदि हैं।

संसारोत्पत्ति और लय क्रियाएं।

पुरुष के संग में प्रकृति अपने तीनों गुणों की वैपम्यता से सृष्टि उत्पन्न करती है। सृष्टि के विकास का यह नियम है:- अव्यक्त अथवा प्रकृति से पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार से तन्मात्राएं, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और मन उत्पन्न होते हैं। मात्राओं से महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस विकास क्रिया का नाम संक्रम है। इसके विपरीत क्रिया का नाम प्रतिसंक्रम है। संक्रमक्रिया को विकासक्रम अथवा परिणामपरिवर्तन भी कह सकते हैं।

जीव ।

पुरुष के लक्षण ऊपर लिख आये हैं। उनके देखते यह सिद्ध नहीं कि पुरुष कर्मों के बन्धनों में पड़कर आवागमन करता है। वह सदैव निर्मल और स्वतंत्र है। यदि यह बात है तो फिर यह सब कौन भोगता है। सांख्य का उत्तर है कि एक लिङ्ग शरीर है, जो १७ वस्तुओं का बना है; अर्थात् बुद्धि, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्राएँ। इस शरीर के द्वारा ही जीवात्मा, फल अथवा मोक्ष की इच्छा करती है। यह शरीर स्थूल शरीर के बिना कुछ अनुभव नहीं कर सकता है।

दुःख ।

जीव को तीन प्रकार के दुःख होते हैं :—

१-वे दुःख जो शरीर और मन से हों ।

२-वे दुःख जो बाहर से हों; जैसे चोर, सर्प, इत्यादि से ।

३-वे दुःख जो दैव की तरफ से हों; जैसे अति वृष्टि, हिमपात, ताप इत्यादि ।

ये सब दुःख पूर्व कर्मों से होते हैं । इन सब दुःखों से कुटकारा पाना, मोक्ष है ।

मोक्ष ।

मोक्ष तीन प्रकार की है :—

१-ज्ञानाधिकता से, २-इन्द्रियों के विषयों की उपरति होने से और ३-सर्वकर्मवासनादि के नाश होने से, जिसे निशेष मोक्ष कहते हैं ।

इस मोक्ष को प्राप्त कर मनुष्य फिर संसार में नहीं आता है, सदैव परमानन्दरूप हो जाता है ।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये अविद्या अथवा अविवेक एक बड़ी बाधा है । बाधाएं मुख्यतः पांच प्रकार की हैं—तमसा, मोह, मायामोह, तमश्च-और अन्धतमश्च ।

इसके दूर करने के लिये, सांख्य दर्शन में ५ तत्त्व कहे हैं । उन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये ।

मनुष्य को समझना चाहिये कि गुण, अर्थात्-सत्त्व-रज-तम प्रकृति में है, न कि आत्मा में, और जो कर्त्तापन है, वह सब गुणों में ही है । अविवेक के कारण मनुष्य समझता है कि कर्त्तापन आत्मा में है और कहता है कि मैं करता हूं; परन्तु यह मूर्खता है । आत्मा निर्मल और निर्विकल्प है । देखो गीता—

३ अध्याय २७ श्लोक

१३ अध्याय २६, ३० श्लोक

सांख्यमतानुसार अध्यात्म, आधिभूत और आधिदेव शब्दों के ये अर्थ हैं:—

बुद्धि, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां; इन १३ को तीन तरह से विचार करो । जब इनमें से प्रत्येक अपने रूप में देखी जाती है, तो वह एक आन्तरिक भाव है, जो अध्यात्म कहलाता है । जिन बाहर वाली वस्तुओं का सम्बन्ध उस से होता है, वे आधिभूत हैं । जो इनमें से प्रत्येक का देवता है, वह आधिदेव है । बुद्धि स्वयं एक आन्तरिक भाव है । उसके द्वारा जिस विषय का निश्चय किया जाय, वह बाह्य है । इसलिये इस उदाहरण में बुद्धि अध्यात्म है, विषय, आधिभूत है और इसका देवता ब्रह्मा, आधिदेव है । इसी तरह अहंकार मनादि को भी समझो ।

अध्यात्म और आधिभूत में वही सम्बन्ध है, जो ज्ञाता और ज्ञेय में है ।

सांख्य तीन प्रमाण मानता है, अर्थात् १ प्रत्यक्ष २ अनुमान और ३ आप्त वचन ।

योग दर्शन ।

योगशास्त्र के सिद्धान्त प्राचीन हैं; परन्तु इन सबको शास्त्ररूप में लाना पतञ्जलि ऋषिका काम है। योग का अर्थ मिलना है; परन्तु ईश्वर और जीव तो एकही है; इसलिये ईश्वर से जीव का मिलना, यह अर्थ नहीं हो सकता है। अतः योग का अर्थ 'चित्तवृत्ति निरोधः' अर्थात् चित्तकी वृत्तियों को रोकना है; जैसे कि पतञ्जलियोगदर्शन के अरम्भ में कहागया है।

योग का सांख्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांख्य शास्त्र के उपदेश से मन को पूरा ज्ञान हो सकता है; परन्तु इन्द्रियों की चेष्टाओं और संसार सम्बन्धी चिन्ताओं से चित्त फिर लिप्त हो सकता है। इसलिये ऐसे साधन बताने की परमावश्यकता है, जो चित्तको सदैव वश में रख सकें और मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी हों।

ये साधन योगशास्त्र में कहेगये हैं।

चित्त के कार्य ये हैं—सत्यज्ञान—मिथ्याज्ञान—संकल्प विकल्प—निद्रा और स्मरण।

सत्यज्ञान तीन प्रमाणों के द्वारा होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन।

मिथ्याज्ञान का उदाहरण रज्जु में सर्प का अथवा सीपी में चाँदी का भान होना है।

संकल्प विकल्प का उदाहरण ऐसी वस्तु; जैसे वर्गवृत्तकी कल्पना करना है, जो असम्भव है।

निद्रा और स्मरण के उदाहरण स्पष्ट हैं, लिखने की आवश्यकता नहीं। इन सब वृत्तियों को वशीभूत करनेके साधन अभ्यास और वैराग्य हैं। अभ्यास से मन स्थिर होताहै। संसार से निवृत्ति होना और निरन्तर निरभिलाषी हो, वैराग्य है।

योग के आठ अङ्ग हैं, अर्थात् १ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम
५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान और ८ समाधि

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिश्रम; ये पांच यम हैं।

नियम

तप, स्वाध्याय (जप), संतोष, शौच, ईश्वर पूजन; ये पांच नियम हैं।

आसन

आसन ८४ प्रकारके हैं, जिनमें से कुछ का वर्णन करते हैं:-

पद्मासन—बाईं जाँघ पर दाँये पैर को रखना और बाँये पैर को दाईं जाँघ पर रखना-दोनों हाथों को इस प्रकार रखना कि दाँये हाथसे बाँये पैर का अँगूठा और बाँये हाथ से दाँये पैर का अँगूठा पकड़ा जाय और नेत्र नाक की नोक पर रहें। इससे सब बीमारियां दूर हो जाती हैं।

स्वस्तिकासन—सीधा बैठ कर पैरों को आपने सामने की जाँघों के नीचे रखना।

भद्रासन—हाथों को कूर्म के रूप में उपस्थ के ऊपर कर पैरों के नीचे रखना।

वीरासन—प्रत्येक पैरको जाँघों के नीचे ठड़ा रखना।

आसनों के सिवा मुद्राये भी हैं। शरीर के ऊपर के भवयवोंको विशेष रीतिसे नियुक्त करना मुद्राएं हैं।

योगीके लिखे भोजन वासादि के नियम भी धृताये गये हैं।

प्राणायाम ।

शरीर की वायु का नाम प्राण है। आयाम उस का रोकना है। प्राणायाम का अर्थ शरीर की वायुको रोकना है। प्राणायाम तीन प्रकार का है—रेचक-पूरक और कुम्भक।

रेचक—बाहर की तरफ से स्वांस लेना, पूरक—उस को रोकना
और कुम्भक—वायु का साम्यभाव से स्थिर होना ।

१२ मात्राओं का प्राणायाम मन्द है, २४ मात्राओं का मध्यम है
और ३६ मात्राओं का श्रेष्ठ है ।

प्रत्याहार ।

विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को अलग करने का नाम प्रत्याहार
है । आसन और प्राणायाम के प्रयोग से इन्द्रियों को उन के विषयों से
अलग कर सकते हैं । पुरुष और प्रकृति का भेद जानने में यह क्रिया
आवश्यक है ।

धारणा ।

नासिकाग्र-नाभी-मूर्द्धि आदि एक जगह में चित्तबंधन करने का
नाम धारणा है । इस से मन चलायमान नहीं होता है और एक चीज़
पर जमा रहता है ।

ध्यान ।

सब वस्तुओं को छोड़ कर एक लक्ष्यपर ध्यान लगाने का नाम
ध्यान है । इस में देशादि का अवलम्बन करना पड़ता है ।

समाधि ।

देशादि का अवलम्बन छोड़कर ध्यान करना समाधि है । जिस का
ध्यान किया जाय उसका आकार वनजाना अर्थात् उससे एक हो जाना
समाधि है । यह दो प्रकार की है:-

समप्रज्ञात, सवीज अथवा सविकल्प और असमप्रज्ञात, निर्बीज
अथवा निर्विकल्प-

किसी निश्चित लक्ष्य पर मन का एक हो जाना पहले प्रकार की समाधि है। ध्यान में ऐसी अवस्था को पहुँच जाना कि कोई ध्यान विषय ही नहीं रहे, दूसरी तरह की समाधि है। समाधि प्राप्त करने के कई उपाय हैं; जैसे प्राणायाम, ईश्वरध्यान अथवासांख्य के २४ तत्त्वों का ध्यान करना।

समयम।

धारणा, ध्यान और समाधि मिल कर समयम कहलाता है, और इस से सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

सिद्धियां (विभूतियां, ऋद्धियां)

- १ भूत भविष्यत घटनाओं का जानना।
- २ पशु पक्षियों की बोली समझना।
- ३ पूर्व जन्मों का हाल जानना।
- ४ दूसरे के मन की बात जानना।
- ५ अदृष्ट हो जाना।
- ६ मृत्यु का हाल जानना।
- ७ हाथी का बल प्राप्त करना।
- ८ जो वस्तुएं दूसरों को नहीं दिखाई दें, उने देखना।
- ९ एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाना, अर्थात् रूपान्तर होना।
- १० आकाश में गमन करना।
- ११ रुई के समान कोमल हो जाना।
- १२ श्रवण शक्ति का अपरिमित हो जाना।
- १३ इन्द्रियों को जीतना।
- १४ काल पर अधिकार करलेना।
- १५ शीत तापादि को जीतना।

- १६ सूर्य पर ध्यान लगाने से भूगोल का हाल जानना ।
- १७ चन्द्रमा पर ध्यान लगाकर जोतिष शास्त्र जानना ।
- १८ ध्रुव पर ध्यान लगाने से नक्षत्रों की गति जानना ।
- १९ नाभी पर ध्यान लगाने से शरीर के भीतर का सब हाल जानना ।
- २० छुधा पिपासा पर अधिकार करना ।
- २१ आकाश के अदृष्ट दृश्य देखना ।
- २२ दृढ़ता प्राप्त करना ।

इस प्रकार की बहुत सिद्धियाँ हैं । कोई चीज़ ऐसी नहीं है कि जो समयम करने से मालूम नहीं हो सकती हो ।

बहुत से योगी इन सिद्धियों के गौरव को देख कर मोक्ष प्राप्ति की चेष्टा से डिग जाते हैं । ऐसा नहीं होना चाहिए । मोक्ष पद का लक्ष्य सदैव रहना चाहिए ।

संस्कार और वासनाएं ।

कर्मों के फल वासनारूप में रहते हैं, दिखाई नहीं देते, अर्थात् स्मृति रूप में रहते हैं ।

इन्द्रियों के विषय भोग से वासनाओं की उत्पत्ति होती है । विषय भोग इच्छा से उत्पन्न होते हैं और इच्छा अज्ञान से । यह अज्ञान, ज्ञान और योग से नष्ट हो सकता है, जैसे वीज अग्नि से जल सकता है । वासना को वीज समझना चाहिये । जैसे वीज से वृक्ष उत्पन्न होता है वैसे ही वासनाओं से शुभ और अशुभ कर्मोंकी उत्पत्ति होकर संसार जाल दिखाई देने लगता है । इसका नाश योग के साधन से हो जाता है और कैवल्य मोक्ष प्राप्त होती है ।

सांख्य में ईश्वर का वर्णन नहीं है; परन्तु योगदर्शन में ईश्वर को सब पुरुषों का अधिष्ठाता बताया है । वह संसार भरकी मोक्ष कर सकता है, वह अनादि-व्यालु और सर्वज्ञ है । उसी का नाम प्रणव है । उसी के ध्यान से वित्त श्रुतियों का निरोध होता है और समाधि होती है ।

न्यायदर्शन ।

न्याय शास्त्र के कर्त्ता गौतम ऋषि हैं । मोक्ष प्राप्त करना इस शास्त्र का मुख्योद्देश है । अपवर्ग, अर्थात् मोक्ष साधन के पदार्थ निम्न लिखित हैं:—

१ प्रमाण २ प्रमेय ३ संशय ४ प्रयोजन ५ दृष्टान्त ६ सिद्धान्त
७ अवयव ८ तर्क ९ निर्णय १० वाद ११ जल्प १२ वितण्डा १३ हेत्वा
भास १४ कलह (कल) १५ जाति १६ निग्रहस्थान ।

१ प्रमाण ।

प्रमाण चार हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (विश्वास योग्य पुरुष का वचन अथवा वेद प्रमाण) ।

२ प्रमेय ।

प्रमेय १२ हैं, अर्थात् १ आत्मा २ शरीर ३ इन्द्रियां ४ इन्द्रियार्थ
५ बुद्धि ६ मन ७ प्रवृत्ति ८ दोष ९ प्रेत्यभाव १० फल ११ दुःख
१२ अपवर्ग ।

आत्मा ।

आत्मा के लक्षण ये हैं:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ।

इच्छा करना, द्वेषकरना, यत्नकरना, सुखदुःख का अनुभव करना
और ज्ञान प्राप्त करना ।

शरीर ।

चेष्टेन्द्रियायाश्चयः शरीरम् ।

चेष्टा और इन्द्रियों के क्षेत्र का नाम शरीर है ।

इन्द्रियां ।

नाक, कान, जिह्वा, चक्षु और त्वक् । ये इन्द्रियां, पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश; पंचभूतों से उत्पन्न होती हैं ।

इन्द्रियार्थ ।

गंध, स्पर्श, रस, रूप, शब्द, ये पांचो इन्द्रियों के अर्थ, अर्थात् विषय हैं।

बुद्धि ।

बुद्धिः उपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।

ज्ञान उपलब्धि बुद्धिका लक्षण है। वह इन्द्रियों के विषय से भिन्न है। अनुभव और स्मृति इसके दो रूप हैं। अनुभव दो प्रकार के हैं-यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव प्रमाणों से सिद्ध है और अयथार्थ अनुभव सत्य रहित और अयथार्थ है। जागृत अवस्था यथार्थ स्मृति का लक्षण है और सुप्त अवस्था, अयथार्थ का ।

मन

युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गम् ।

मन में एक समय में एक से अधिक ज्ञान नहीं होता है, बुद्धि में होसकता है। इसलिये बुद्धि मन से भिन्न है।

प्रवृत्ति ।

प्रवृत्तिः बाणुद्धि शरीरारम्भ इति । बाणी, बुद्धि और शरीर की चेष्टा के आरम्भ का नाम प्रवृत्ति है। अर्थात् इन चीजोंके काम करने का नाम है।

दोष ।

प्रवर्त्तना लक्षणादोषाः । प्रवृत्ति कराना काम दोषों का है।

प्रेत्यभाव ।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । फिर जन्म लेना प्रेत्यभाव है ।
पुनर्जन्म जब ही होसकता है जब आत्मा नित्य मानली जाये ।

फल ।

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् । प्रवृत्ति से दोंप उत्पन्न होते हैं और दोषों से जो अर्थ उत्पन्न होते हैं, उनका नाम फल है ।

दुःख ।

वाधा होने का नाम दुःख है । दुःख के अभाव का नाम सुख है ॥

अपवर्ग [मोक्ष]

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोतरापाये
तदन्तरापायादपवर्गः ।

दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञान; इनका एक दूसरे के पीछे नाश होना फिर इन सबका अनन्तर नाश होना, अपवर्ग है । जैसे सुषुप्ति अवस्था वाले को कोई दुःख अनुभव नहीं होता है, वैसे ही अपवर्ग प्राप्त करने वाले को कोई दुःख नहीं रहता है ।

३ संशय ।

संशय इन इन चीजों से उत्पन्न होता है:—

१ बहुत चीजों में सामान धर्म होने से, २ किसी चीज में सामान धर्म नहीं होने से, ३ उपलब्धि अनुपलब्धि से अथवा ४ विशेषाक्षेप से ।

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विपत्तिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्धि
व्यवस्था तच्च विशेषाक्षेपो विमर्शा संशयः ॥

४ प्रयोजन ।

काम करने का जो अभिप्राय है वही उसका प्रयोजन है; जैसे कोई आदमी रोटी करने के लिये लकड़ियां इकट्ठी करता है, तो लकड़ियों के इकट्ठे करने का प्रयोजन रोटी करना है ।

५ दृष्टान्त ।

लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धि साम्य स द्रष्टान्तः

जिस बातको सामान्यआदमी और परीक्षाकरनेवाला आदमी एकसी समझते हों, वह दृष्टान्त है ।

६ सिद्धान्त ।

प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये हुए विचार का नाम सिद्धान्त है ।

तत्राधिकारणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ।

७ अवयव ।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानि अवयवाः ।

जिसमें ये पांचों अवयव हों, वह पंचावयव वाक्य कहलाता है । पांच अवयव ये हैं ।

१-प्रतिज्ञा—पर्वत में अग्नि लगरही है ।

२-हेतु—क्योंकि उसमें से धुआं निकल रहा है ।

३-उदाहरण—जहां २ धुआं होता है, वहां २ अग्नि होती है; जैसे पाक स्थान में ।

४-उपनय—इस पर्वत में भी धुआं है ।

५-निगम—इसलिए इस पर्वत में अग्नि लगरही है ।

८ तर्क ।

बिना जानी हुई किसी वस्तुका सत्यरूप जानने के लिए युक्तियों का लगाना, तर्क है ; जैसे यह जानना है कि आत्मा नित्य है या अनित्य है। यदि अनित्य है, तो कर्मों का फल, आवागमन और मोक्ष कैसे होसकते हैं। यह सिद्धान्त असत्य है; क्योंकि ये सब आत्मा को होते हैं। इसलिए आत्मा नित्य है।

९ निर्णय ।

दोनों पक्षों को सुनकर संशय हटाना और ठीक अर्थ निश्चय करना, निर्णय है।

१० वाद

विपक्षी के तर्क का खण्डन करते हुए सत्य पक्षको प्रमाणों द्वारा सिद्ध करना, वाद है।

११ जल्प

अपनी जीतके लिए छलादि द्वारा तर्क करना, जल्प है।

१२ वितण्डा

वितण्डा करने वाला किसी चीज़को सिद्ध नहीं करता है, केवल दूसरे की पक्ष काटने की चेष्टा करता है।

१३ हेत्वाभास

भ्रूठा हेतु बताना हेत्वाभास है। यह पांच तरह का होता है।

१-सविभचार-यह अनेक बातों को सिद्ध करने की चेष्टा है।

२-विरुद्ध-यह सिद्धान्त के विरोधी बातको सिद्ध करने की चेष्टा है।

३-प्रकरणसम-यह दोनों पक्षों को सिद्ध करने की चेष्टा है।

४-साधारणसम-इस में सिद्ध करने के लिए अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता है।

५-कालातीत-समय चलेजाने पर सिद्ध करने की चेष्टा करना।

१४ छल [कलह]

वचनविघातो ऽर्थकारणोपपत्त्या छलम् ॥

एक शब्द के दो अर्थहों। उनमें से दूसरे अर्थ को लेकर किसी वाक्य को काटा जाय, अर्थात् उसपर विघात किया जाये, तो छल है। यह तीन प्रकार का होता है:-

१-वाक्यछल २-सामान्यछल ३-उपचारछल

वाक्यछल- (१) यह बालक नव कमवल बला है, अर्थात् नया कमवल रखता है-

(२) छल से यह कहना कि यह बालक ६ कमवल रखता है। यहाँ नव शब्द के दो अर्थ हैं-नया और ६

सामान्यछल-(१) यह ब्राह्मण बड़ा विद्वान् और सदाचारी है।

(२) छल से यह कहना कि यह विद्वान् और सदाचारी हो ही नहीं सकता है; क्योंकि कितने ही ब्राह्मणों के ऐसे लड़के हैं जो विद्वान् और सदाचारी नहीं हैं।

उपचारछल-(१) फांसी चिल्ला रही है। (२) छल से यह कहना कि जड़ फांसी का स्थान चिल्ला रहा है, न कि वह मनुष्य जो फांसी पर लटकाया गया है।

१५ जाति।

साधर्म्यवैधर्म्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।

वस्तुओं के एकसा अथवा भिन्न होने पर तर्क करना। जाति १४ प्रकार की है।

१६ निग्रहस्थान ।

जब कोई किसी तर्क के समझने में असमर्थ हो, अथवा जानकर मिथ्या समझता हो, तो निग्रहस्थान होता है । ऐसा मनुष्य जो समझ ही नहीं सकता है, अथवा विरुद्ध समझ जाता है, उस के साथ वाद करना वृथा है । इस के २२ भेद हैं ।



वैशेषिकदर्शन

वैशेषिकशास्त्र के रचयिता कणाद ऋषि हैं। इस शास्त्र के अनुसार संसार की सब वस्तुएं सात पदार्थों में विभक्त हैं, अर्थात् १ द्रव्य २ गुण ३ कर्म ४ सामान्य ५ विशेष ६ समवाय और ७ अभाव।

१ द्रव्य ।

१ पृथिवी २ जल ३ वायु ४ अग्नि ५ आकाश ६ काल ७ दिशा
८ आत्मा ९ मन ।

ये ९ द्रव्य हैं; परन्तु ये गुण के बिना नहीं रह सकते हैं, और न गुण, द्रव्य के बिना रह सकते हैं। इनमें से पहले चार द्रव्य नित्य और अनित्य दोनों हैं और परमाणु अथवा शरीर रूप में रहते हैं। नित्य द्रव्य, शरीर, अशरीर अथवा इन्द्रियों के रूप में रहते हैं। परमाणुओं को प्रेरणा करनेवाला ईश्वर है। ईश्वर एक है; परन्तु ईश्वर के अंश, जो जीव कहलाते हैं, अनेक हैं।

द्रव्यविवेचन ।

पृथिवी, जल, तेज- वायु द्रव्य परमाणुरूप में नित्य हैं, और कार्य रूपों में अनित्य है; परन्तु जब शरीर इन्द्रियादि कार्य रूप में होते हैं, तो नाशमान हैं।

आकाश—एक, विभु, सर्वव्यापी और नित्य है, अर्थात् नाशमान नहीं है, और इस का गुण शब्द है।

काल—भूत- भविष्यत्- वर्तमान समय सूचक है, और एक, विभु सर्वव्यापी और नित्य है।

दिक्—पूर्वपश्चिमादि दिशा सूचक है, और एक, विभु और नित्य है।

आत्मा—ज्ञान का आधार है, अर्थात् जिसमें ज्ञान रहता है। जीवात्मा और परमात्मा—ये दो भेद हैं। परमात्मा ईश्वर है, जो सर्वज्ञ, एक और सुख दुःख रहित है। जीवात्मा, प्रत्येक शरीर में अलग २ है। आत्मा, विभु, सर्वव्यापी और नित्य है। इसमें आठ गुण रहते हैं—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और ज्ञान।

मन—सुखदुःखप्राप्ति के साधन की इन्द्रिय का नाम मन है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ अलग २ रहने से मन अनन्त हैं। मन अपने परमाणुरूप में नित्य है।

२ गुण २४ हैं।

१ रूप—पृथिवी, जल और अग्नि में रूप गुण रहता है।

२ रस—पृथिवी और जल का गुण

३ गंध—पृथिवी का गुण

४ स्पर्श—पृथिवी, जल, तेज और वायु में है।

५ संख्या—एक अनेक बताती है। ६ द्रव्यों में रहती है

६ परिमाण—माप करना। ६ द्रव्यों में होता है।

७ पृथक्त्व—भिन्नता। ६ द्रव्यों में है।

८ संयोग—मिलाना। ६ द्रव्यों में है

९ विभाग—अलग करना। ६ द्रव्यों में है

१० परत्व—पहला, पिछला, दूर पास—यह गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है; जैसे दूर और पास (दिशाके कारण), वृद्धि और युवा (कालके कारण)

११ अपरत्व—परत्वके विपरीत

१२ बुद्धि—सब व्यवहार के हेतुज्ञान का नाम बुद्धि है। यह दो प्रकार की है, स्मृति और अनुभव। जो संस्कारों से ज्ञान हो, वह स्मृति

है, और जो ज्ञान उससे भिन्न हो, वह अनुभव है। अनुभव दो तरह के हैं—यथार्थ और अयथार्थ ।

जैसी चीज़ हो वैसीही देखना, यथार्थ ज्ञान है; जैसे चांदी को चांदी देखना। इसे प्रमा कहते हैं। सीप में चांदी देखना आदि, अयथार्थ ज्ञान है। इसे अप्रमा कहते हैं ।

यथार्थ अनुभव चार प्रकार का है और उसके चार प्रमाण हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आप्तशब्द ।

१३ सुख—जो सबको अनुकूल मालूम हो, वह सुख है ।

१४ दुःख—जो प्रतिकूल हो, वह दुःख है ।

१५ प्रयत्न—चेष्टा करना या कराना ।

१६ इच्छा—चाहना (कामः) ।

१७ द्वेष—क्रोध करना ।

१८ गुरुत्व—भारीपन—यह गुण पृथिवी और जल में रहता है ।

१९ द्रवत्व—पतलापन—यह गुण पृथिवी, जल और तेजमें होता है।

२० स्नेह—चिकनापन ।

२१ संस्कार—तीन प्रकार के हैं—वेग, भावना और स्थिति-स्थापक ।

वेग—पृथिवी, जल, तेज और मन में रहता है ।

भावना—स्मृति का कारण है और अनुभव से उत्पन्न होती है और आत्मा में ही केवल रहती है ।

स्थितिस्थापक—जो चीज़ पलट दी है, उसका फिर वैसा ही होजाना; जैसे रवड़ चटाई आदि ।

२२ धर्म—शास्त्रोक्त कर्म करना ।

२३ अधर्म—शास्त्र में जिसका निषेध है, उसे करना, अधर्म है ।

२४ शब्द—आकाश का गुण है ।

३ कर्म ।

पृथिवी, जल, वायु और तेज में कर्म होता ।

१ उत्क्षेपण—ऊपर की तरफ फेंकना ।

२ अपक्षेपण—नीचे की तरफ फेंकना ।

३ आकुञ्चन—सुकड़ना ।

४ प्रसरण—फैलना ।

५ गमन—जाना

४ सामान्य

सबमें एकसापन होना सामान्य है । यह दो प्रकार का है—पर और अपर, अर्थात् अधिक और न्यून; सामान्य नित्य है, अनेक के अन्तरगत है और द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है । पर, सत्ता है और अपर, द्रव्य जाति है ।

५ विशेष

विशेष, पृथक्त्व को बताता है । यह नित्य द्रव्यों में रहता है । विशेष धनन्त है, अर्थात् असंख्य है । विशेष, नित्य द्रव्यों में रहता है और सामान्य से भिन्नता बताता है ।

६ समवाय

समवाय एक है । इसके भेद नहीं हैं । यह अभिन्नता सूचक है । जो सम्बन्ध छोड़े और सवार में है, वह सयोग सम्बन्ध है; परन्तु जो सम्बन्ध सूत और कपड़े में है, वह समवाय सम्बन्ध है । पिता-पुत्र, सम्पूर्ण भाग, कारण-कार्य, द्रव्य-गुण, विचार-वाणी; इन सब में समवाय सम्बन्ध है । समवाय सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जो सदैव दोनों में

आन्तरिक हो। वह नित्य सम्बन्ध है। जो चीज़ें अलग नहीं हो सकती हैं, उनमें समवाय सम्बन्ध है। जो दो चीज़ें पृथक् नहीं हो सकती हैं, उनमें से एक चीज़ दूसरी चीज़में धरी होती है; जैसे अवयव और वह जिसमें अवयव हों, गुण और वह जिसमें गुण हों, क्रिया और क्रिया करने वाला, जाति और व्यक्ति, विशेष और नित्य द्रव्य।

७ अभाव

अभावका अर्थ नहीं होना है। वह चार प्रकार है।

१ प्रागभाव—जैसे वनाहुआ कपड़ा और वह कपड़ा जो अभी नहीं बना है।

२ प्रध्वन्साभाव—जैसे वनेहुये कपड़े का नाश होना।

३ अत्यन्ताभाव—जैसे वांछ स्त्री के पुत्र, जो कभी था ही नहीं।

४ अन्योन्याभाव—जैसे जो घड़ा है वह कपड़ा नहीं है।

कारण तीन हैं

१ समवायिकारण—जैसे सूत और कपड़े का सम्बन्ध

२ असमवायिकारण—जैसे रंग और कपड़े का सम्बन्ध

३ निमित्तकारण—जैसे ताना वाना और कपड़े का सम्बन्ध

हेत्वाभास

ऐसा वाक्य जो देखने में सही मालूम हो, परन्तु वास्तव में सही नहीं है, हेत्वाभास कहलाता है; जैसे पर्वत में अग्नि है; क्योंकि यथार्थ अनुभव होता है। इस में हेतु ठीक नहीं है; क्योंकि नदी का भी यथार्थ अनुभव हो सकता है। हेत्वाभास पांच प्रकार के होते हैं।

अथर्थार्थ अनुभव तीन प्रकार का है।

१ संशय २ विपर्यय ३ तर्क.

एक ही चीज़ में विरुद्ध धर्म का ज्ञान होना संशय है; जैसे यह अम होना कि यह आदमी है या स्थाणु ।

मिथ्या ज्ञानका नाम विपर्यय है; जैसे सीपमें चांदी देखना । व्याप्यके आरोपण से व्यापक का आरोप करना, तर्क है; जैसे यदि अग्नि नहीं होती, तो धुँआ भी नहीं होता ।।

परमाणु

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।

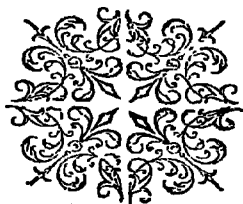
भागस्तस्य च षष्ठोयः परमाणुः स उच्यते ॥

जाल के भीतर सूर्य किरणों के जाने से जो सूक्ष्म रज दिखाई देती है, उस रज के छूटे भाग को परमाणु कहते हैं । इस के खण्ड नहीं हो सकते हैं । अपने रूप में परमाणु नित्य हैं और जब आपस में मिल जाते हैं तब अनित्य अर्थात् नाशमान हो जाते हैं । जितने शरीरादि हैं, सब इन्ही के बने हैं । पहले पहल ईश्वर की प्रेरणा से दो परमाणु मिलते हैं; ये अणु कहलाते हैं । जब तीन अणु मिलते हैं, तब वे दिखाई दे सकते हैं । इनके मिलने का क्रम यह है ।

पहले दो परमाणु मिलकर एक अणु होता है । फिर तीन अणु मिलते हैं । फिर ऐसे चार अणु जो तीन तीन से एक बना हो मिलते हैं । इस तरह और मिलते जाते हैं और सर्व शरीरों को निर्माण करते हैं । परमाणु नित्य हैं । संयुक्त परमाणु अनित्य हैं ।

पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसा के कर्त्ता जैमिनि ऋषि हैं। यह पांच प्रमाण मानते हैं, अर्थात् १ प्रत्यक्ष २ अनुमान ३ उपमान ४ अर्थपति और ५ शब्द। उत्तर-मीमांसा का विषय जीव ब्रह्म और उनका सम्बन्ध बताना है और पूर्व मीमांसा का विषय धर्म का निर्णय करना है। यज्ञादि कर्म करने में जो धर्म होता है, वह सब इस मीमांसा में अच्छी तरह दिखाया गया है। यज्ञक्रियाएं क्या क्या हैं? उनमें क्या क्या भेद हैं? कौनसी क्रियाएं सर्वदा करने की हैं? कौनसी समय आने पर करने की हैं; यह सब विषय इस मीमांसा में प्रतिपादित हैं। किस विधि का क्या प्रभाव है? राजसूय यज्ञ क्या है? उसके करने का कौन अधिकारी है? प्रायश्चित्त क्या हैं और कब किये जाते हैं? यह सब विषय भी इस मीमांसा में हैं। अतएव यह मीमांसा कर्मकाण्ड विषयक है। इस मीमांसा का आधारवेदों के ब्राह्मणों के सिद्धान्तों पर है। प्राचीनकाल में यज्ञादि कर्मकाण्ड का बहुत प्रचार था। ज्ञानकाण्ड के उपदेश फैलने से और भक्तिमार्ग का प्रचार होनेसे कर्मकाण्ड की कमी होगई। अब यह केवल नाममात्र ही रहगया है।



भागवतधर्म अथवा भक्तिमार्ग

भक्तिमार्ग का आरम्भ भागवतधर्म से हुआ मालूम होता है। भागवतधर्म के मुख्य ग्रन्थ ये हैं; महाभारत के शांतिपर्वमें नारायणीयोपाख्यान २ शाण्डिल्यसूत्र, ३ भागवतपुराण, ४ नारद पञ्चरात्र ५ नारदसूत्र और ६ रामानुजाचार्यआदिके ग्रन्थ। नारायणीयोपाख्यान के सिवा अन्य सब ग्रन्थ भगवद्गीता के पीछे के बने हुये हैं; क्योंकि इनमें से कितनों में भगवद्गीता के श्लोकों के प्रमाण पाये जाते हैं। नारायणीयोपाख्यान में वर्णन है कि नर और नारायण नामके दो ऋषियों ने भागवतधर्म को पहले पहल चलाया, और जब उनके कहने से नारद ऋषि श्वेतद्वीप को गये, तब वहाँ भगवान ने स्वयं नारद को इस धर्मका उपदेश किया। यह श्वेतद्वीप क्षीरसमुद्र में है और क्षीरसमुद्र मेरुपर्वत के उत्तर में है। भागवतधर्म में परमेश्वर को वासुदेव, जीवको संकषण, मनको प्रद्युम्न और अहंकार को अनिरुद्ध कहा है। इस धर्म में पहले निष्कामकर्म करनेका ही उपदेश था, फिर भक्तिका समावेश हुआ। भागवत धर्म ईसा से लगभग १४०० वर्ष पहले प्रचलित हुआ था। इसी धर्म से भगवद्गीता में भक्तिमार्गके अंश लिये गये हैं, और निष्कामकर्म के उपदेश का भी आधार यही धर्म है। इससे यह सिद्ध होता है कि भक्तिमार्ग, जो गीताके अन्तरगत है; कहीं बाहरसे नहीं आया है; प्रत्युत प्राचीन भागवत धर्म का ही एक अंश है। भक्तिमार्ग का प्रसिद्ध ग्रन्थ नारदसूत्र इस समय में अतिमाननीय है। इस कारण इस ग्रन्थ के भावोंका सारांश यहाँ देते हैं, जिससे गीता का भक्तिविषय स्पष्ट और बोधगम्य हो जाय।

नारदभक्तिसूत्र ।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति परमप्रेम और अमृत स्वरूपा है । यह प्रेम अनिर्वचनीय है । जैसे गंगा स्वाद को नहीं कह सकता है, वैसे भक्त भी प्रेमस्वरूप को बता नहीं सकता है । प्रेम, गुण और कामनाओं से रहित है । वह सदैव बढ़नेवाला है, एक रस है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है और केवल अनुभव स्वरूप है ।

भक्तिमतभेद ।

पराशर्य का मत है कि ईश्वरपूजादि में अनुराग करना भक्ति है । गर्ग कहते हैं कि कथादि में अनुराग होने का नाम भक्ति है । श्यामिडल्य का मत है कि आत्मा में निरन्तर रति करना भक्ति है । परन्तु नारद जी के मतानुसार ईश्वर में सब आचारों का अर्पण कर देना और ईश्वर के स्मरण में परमव्याकुल होना भक्ति है । यथार्थ में है भी यही । परन्तु इस में एक आवश्यक अंश और है, और वह यह है कि जिसकी भक्ति की जाय, उसके महात्म का ज्ञान रहे, अर्थात् उसकी श्रेष्ठता का सदैव स्मरण रहे, नहीं तो इस ज्ञान के बिना भक्ति व्यभिचारियों के प्रेम की बराबर है । श्रेष्ठ भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण वृज की गोपियाँ हैं । ये श्रीकृष्ण की परमभक्त थीं । कर्म, ज्ञान और योग से भक्ति, बढ़ कर है । क्योंकि कर्म, ज्ञान और योग तो साधन ही हैं और भक्ति, फलरूप है ।

किसी किसी का मत है कि भक्ति के लिये ज्ञान होना भी आवश्यक है, और भक्ति और ज्ञान एक दूसरे पर अवलम्बित है; परन्तु नारद जी ज्ञान को आवश्यक नहीं समझते हैं, क्योंकि भोजन का ज्ञान होने

से जुधा वृष नहीं होती है। इसी तरह ईश्वर का ज्ञान होने से भक्ति नहीं हो जाती है; क्योंकि भक्ति, हृदय के प्रेम का विषय है और ज्ञान, बुद्धि का।

भक्ति के प्रकार की है।

सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणों के भेद से, अथवा जिज्ञासुओं के भेद से, भक्ति तीन प्रकार की है। पहली, दूसरी से उत्तम है; और दूसरी, तीसरी से। अपने रूप में एक होते हुये भी भक्ति १० प्रकार की है:—

- १—ईश्वर के गुण और महात्म सुनने की भक्ति।
- २—ईश्वर के रूप की भक्ति।
- ३—पूजा की भक्ति।
- ४—स्मरण करने की भक्ति।
- ५—दास्य अर्थात् दासभावकी भक्ति।
- ६—सखाभाव की भक्ति।
- ७—कान्ताभाव की भक्ति।
- ८—आत्म निवेदन की भक्ति
- ९—तन्मयरूपी भक्ति
- १०—परमविरह की भक्ति

भक्ति मार्ग की उत्कृष्टता

और मार्गों की अपेक्षा भक्ति अतिसुलभ है; क्योंकि उसकी सिद्धि में अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं सिद्ध, शान्ति और परमानन्दरूप है। दूसरे मार्ग केवल साधन रूप ही हैं; परन्तु भक्ति फलरूप है।

भक्ति साधन

भक्तिसाधन दो प्रकार के हैं—एक त्याग-लग्नधी और दूसरे कर्तव्य-सम्बन्धी।

त्यागसम्बन्धी साधन

१—इन्द्रियों के विषय और सांसारिकसङ्ग त्याग करना, अर्थात् सांसारिक चीज़ों से निवृत्ति करना ।

२—अभिमान और दम्भादि को त्याग करना

३—स्त्री, धन, नास्तिक और वैरियों के चरित्र को नहीं चुनना ।

४—वाद का अवलम्बन नहीं करना; क्योंकि वाद से संशय और बहुलभाव होता है ।

५—कुलंग सर्वथा छोड़ देना ; क्योंकि यह काम, क्रोध, मोह, स्मृति भ्रंश, बुद्धि नाश और सर्व नाश करने का कारण है । दुरे सङ्ग से इनकी तरङ्ग समुद्रतरङ्गों के समान बढ़ी हो जाती हैं ।

कर्त्तव्यसम्बन्धी साधन

१—निरन्तरभजन करना ।

२—प्रगवत् के गुण सुनना और क्लीर्त्तन करना ।

३—महात्मार्यों का सङ्ग, जो दुर्लभ, अगम्य और सिद्धि दायक है, करना । ऐसा सङ्ग ईश्वर की कृपासे ही प्राप्त होता है । ईश्वर और ऐसे महत्त्वार्यों में कोई भेद नहीं है । इसलिये इनका सङ्ग सर्वथा गृहण करना चाहिये ।

४—जब तक भक्ति नहीं हो, तो लोक व्यवहार करना; परन्तु कर्मों के फल सर्वथा त्याग करना ।

५—अपने सब आचारों को ईश्वर को अर्पण करना और काम, क्रोध अभिमानादि भी उसी के प्रति करना ।

६—जैसे परमस्वामिभक्त दास और परमपतिव्रता संती अपने स्वामी और पति की सेवा करते हैं, वैसे ही ईश्वर के भक्त को ईश्वर का भजन करना चाहिये । उसे प्रेम का स्वरूप बन जाना चाहिये

७—सुख, दुःख, इच्छा लाभादि को छोड़कर और काल की प्रतीक्षा करते हुये भक्त को चाहिये कि आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं खोवे ।

८—आदिसां, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि का पालन करना

९—सर्वदा सब भावों से निश्चिन्त हो केवल भगवान् का ही भजन करना

१०—सारांश यह है कि भक्ति महात्माओं की कृपा, अथवा ईश्वर कृपांशसे प्राप्त होती है। ईश्वर की जिस पर कृपा होती है, उसी भक्त के हृदय में वह प्रकाश रूप होकर, अनुभव कराता है।

भक्तों के लक्षण ।

भक्त, सांसारिक सुखों का त्याग कर देते हैं, महात्माओं का संग करते हैं, अभिमानादि को छोड़ देते हैं। एकान्त स्थानों में भ्रमण करते हैं और भक्ति के आनन्द में ही मग्न रहते हैं। वे संसार बंधनों से दूर रहते हैं, सत्व, रज, तम, तीनों गुणों के परे जाने की चेष्टा करते हैं, ममत्व और सम्पत्ति को छोड़ देते हैं, कर्म और उन के फलों की कामना भी त्याग देते हैं, सदैव निर्भय रहते हैं। पूर्णभक्त वेदाध्ययनादि का भी त्याग कर देते हैं, निरन्तरशान्ताचित्त से ईश्वर का भजन करते हैं, केवल भक्तविषय की ही घातलाप गद्गद वाणी और आनन्दपूर्ण अश्रुधारा से करते हैं। इनमें जाति, विद्या, सौंदर्य, कुल, धनादि सम्बन्धी कोई भेद नहीं रहता है। ये ईश्वर के ही होकर ईश्वर में रहते हैं। भक्ति प्राप्त करने पर सिद्धावस्था को पहुँच जाते हैं, अर्थात् निरन्तर आत्मानन्द हो जाते हैं। इन के मन में इच्छा, द्वेष, अथवा अपनी उन्नति की वृत्ति कभी नहीं उठती है। ऐसे मनुष्य पृथिवी को और उस कुल को जिसमें जन्म लेते हैं, पवित्र बनाते हैं। इनसे तीर्थ स्थान पवित्र हो जाते हैं, अच्छे कामों में श्रेष्ठता आजाती है, और धर्म ग्रन्थों में न्यत्या प्रादुर्भाव होती है। इन के पूर्वज निरन्तर सुखी हो जाते हैं। इनकी मद्दिमा देवता तक गाते हैं और पृथिवी उनको अपना बड़े अमूल्य रत्न समझती है! ऐसे भक्त भवसागर से स्वयम् पार हो जाते हैं और दूसरों को भी पार लगा देते हैं।

आचारधर्म ।

गीता में आचारधर्म का जज्ञकर श्रीभगवान ने बहुत से वाक्य कहे हैं । कर्म क्यों करना चाहिये ? यह प्रश्न आचारधर्म का मूलाधार है । कोई कहते हैं कि कर्म को इस विचार से करना चाहिये कि उसके करने से हमें यह लाभ होगा, हमें इतना सुख प्राप्त होगा, अथवा हमारे प्रिय जनों का इतना सुख और लाभ होगा । ऐसे ऐसे बाह्य विचारों से किसी कर्म को करना, आधिभौतिक दृष्टि है । इस दृष्टि से कर्म करने में बहुतसी भूल हो सकती है; क्योंकि जिस काम को हम अपनी छोटी बुद्धि से अच्छा समझते हैं, सम्भव है कि वह वास्तव में बुरा हो ।

कोई चोर यह समझ कर कि चोरी करने से मुझ को लाभ होगा और मुझे और मेरे कुटुम्ब का सुख होगा, चोरी कर सकता है । यदि कर्म करने की आधिभौतिक दृष्टि ठीक समझी जाय, तो उसके अनुसार चोरी करना कोई पाप नहीं है । इसलिये इस दृष्टि को भारतवर्ष के ज्ञानियों ने बहुत न्यून समझा है । पश्चिमदेशीय पांडित, बहुधा इसी दृष्टि का जज्ञकर आचारधर्म को निर्माण करते हैं । कोई यह कहते हैं कि जैसे मनुष्य में देखने-सुनने-सूँघने आदि की इन्द्रियाँ हैं, वैसेही एक धर्माधर्म निर्णायक इन्द्रिय भी है, जो शीघ्रही बतादेती है कि यह कर्म करने का है या नहीं । लोग कहा करते हैं कि यह काम हमारे अन्तःकरण को नहीं भाता है, अथवा हमारा मन इसके करने में राजी नहीं है । इस विचार के अनुसार जो काम अन्तःकरण को अच्छा लगे वह अच्छा है ।

दूसरे शब्दों में यह कहना है कि धर्माधर्म का निर्णाय अन्तःकरण के भानने ही पर है । इस दृष्टि को आधिदैविक दृष्टि कहते हैं । हमारे ऋषि महात्माओं ने इस दृष्टि को भी अकाट्य प्रमाण नहीं समझा है; क्योंकि अन्तःकरण का शुद्ध और मलिन होना-बहुत कुछ विद्या-सम्भ्यता

और सतसङ्ग परही निर्भर है। प्राचीन समय में ठगालोग मनुष्यों को मार डाला करते थे। उनका अन्तःकरण इस बात को अंगीकार कर लेता था; परन्तु अपना वचन देकर तोड़ना, उनके अन्तःकरण को अस्वीकृत था। इससे यह ज्ञात हुआ कि सबका अन्तःकरण एकसा नहीं होता है, और अन्तःकरण का अच्छा बुरा होना पूर्वोक्त चीजों पर निर्भर है। यदि धर्म अधर्म की नीव अन्तःकरण की गवाही पर रखी जाय, तो यह बड़ी कमज़ोर होगी; इसलिये कोई और ही कसौटी होनी चाहिये, जिस पर धर्म अधर्म का निर्णय ठीक होजाय, और यह कसौटी आध्यात्मिक दृष्टि ही है, अर्थात् यह दृष्टि जिससे यह ज्ञान होवे कि आत्मा क्या है और समस्त संसार में जो आत्माएँ हैं, उनसे मेरी आत्मा का क्या सम्बन्ध है। जब यह मालूम होगया कि सब चराचर जीवों में एकही आत्मा है, तो संसारी जीवों के साथ गाढ़बन्धुता होसकती है। आध्यात्मिक दृष्टिवाला, धर्म अधर्म की यह कसौटी रखता है कि जिस कर्म में किसी चराचर जीवको ज्ञानि, अथवा दुःख पहुँचे, वह बुरा है। वह समझता है कि दुःख मेरी ही आत्मा को पहुँचाता है। उसकी समदृष्टि सभी जीवों में होजाती है, वह ममता-वैर-राग-द्वेष-अहंकार की प्रेरणासे कोई काम नहीं करता है, और उसकी दृष्टि में समस्त जीव अपने कुटुम्ब के समान हो जाते हैं; क्योंकि कदा है:-

अयं निजःपरो वेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

इसका यह अर्थ है कि छोटे चित्तवाले मनुष्य यह कहते हैं कि यह मेरा है, यह तेरा है, अर्थात् अपने और दूसरों के जीवों में सुख दुःख की दृष्टि से अन्तर रखते हैं; परन्तु जो उदारचित्त हैं, वे भूमण्डल के चराचर जीवों को अपने कुटुम्ब समान ही मानते हैं। इससे आध्यात्मिकदृष्टि ही गीता के आचारधर्म में मानी गई है।

इस दृष्टिका आधार गीता के इन श्लोकों पर है:—

सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(अ. ६ श्लो. २६)

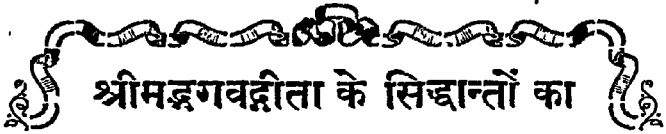
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(अ. ६ श्लो. ३०)

आगे के दो श्लोक ३१, ३२ भी यही बताते हैं ।



(१३५)



श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्तों का

सप्रमाण शृङ्खलाबद्ध

वर्णन ।

श्रीमद्भगवद्गीता

सृष्टि ।

सब चराचर सृष्टि कल्प के आदि में ब्रह्मकी	अ० ९ श्लो० ८, ७, १०
योगमाया से, जो प्रकृति कहलाती है, उत्पन्न होती	अ० ७ श्लो० २५, १४
है और कल्प के अन्त में उसी में लय हो जाती	अ० ४ श्लो० ६
है ॥ ब्रह्मा के दिन व रात्रि का नाम कल्प है,	अ० ८ श्लो० १७, १८
जो एक सहस्र युगों का होता है । इस तरह सब	
सृष्टि अव्यक्त ब्रह्म से ब्रह्मा के दिन में होती है	
और ब्रह्मा की रात्रि आने पर उसी में लय हो	
जाती है । प्रकृति और पुरुष अनादि हैं । प्रकृति	अ० १३ श्लो० २०
में सत्त्व-रज-तम तीन गुण हैं, और ये अनादि हैं ।	अ० १४ श्लो० ५
कार्य-कारण शृंखला का प्रारम्भ इसी से होता है ।	अ० १३ श्लो० २१
प्रकृति दो प्रकार की है-परा और अपरा । पृथिवी-	अ० ७ श्लो० ४, ५
-जल-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि और अहंकार;	
ये सब अपरा प्रकृति हैं । क्षेत्र और उसके विकार,	अ० १३ श्लो ६, ७
अर्थात् महाभूत-अहंकार-बुद्धि-अव्यक्त-ज्ञानेन्द्रियां-	
कर्मेन्द्रियां-मन-इन्द्रियार्थ-इच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-सं-	
योग-ज्ञान और धृति; ये सब अपरा प्रकृति में हैं ।	
परा प्रकृति सब भूतों की योनि है । परमात्मा इसी	अ० १४ श्लो० ३, ४
में गर्भबीज धरता है । इस से सब सृष्टि की	
उत्पत्ति होती है । सृष्टि क्रम यह है:—	
कल्प के प्रारम्भ में सात ऋषि, चार सनातन कुमार	अ० १० श्लो० ६
और मनु, जो ब्रह्मान्श हैं, मनसे उत्पन्न हुए । इनसे	
मनुष्यजाति उत्पन्न हुई ।	
बुद्धि से लगा सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणुओं तक	अ० १३ श्लो २०
सब वस्तुएं, सत्त्व-रज-तम गुणों से बनी हैं ।	अ० ७ श्लो० १३

- अ० १४ श्लो० ६ सत्त्वगुण के लक्षण ये हैं:-निर्मलता-प्रकाश-आरोग्य और सुख । सत्त्वगुण के कारण जीव का सम्बन्ध ज्ञान के साथ होता है ।
- अ० १४ श्लो० ७ रजोगुण, राग और तृष्णा को उत्पन्न करनेवाला है । इसके कारण जीवको कर्मबन्धन होता है ।
- ” ” ८ तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है, और सब जीवों को मोह कराने वाला है । यह जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा बांधता है ।
- ” ” १० जब रज और तम, दबे रहते हैं, तब सत्त्वगुण प्रधान होता है । और जब सत्त्व और तम दबे रहते हैं, तब रजोगुण प्रधान होता है, और जब सत्त्व और रज दब जाते हैं, तब तमोगुण दिखाई देता है ।
- ” ” ११ जब देह के सब द्वारों से ज्ञान का प्रकाश होने लगे, तब जानो कि सत्त्वगुण की वृद्धि हो रही है ।
- ” ” १२ जब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा उत्पन्न हों, तब रजोगुण की वृद्धि जानो ।
- अ० १४ श्लो० १३ जब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह उत्पन्न हों, तब तमोगुण जानो ।
- अ० १८, १७, जितनी संसार की वस्तुएं अथवा मानसिक भाव हैं, उन सबमें ये तीनों गुण अवश्य, हैं, और इन्हीं के कारण उन में श्रेष्ठता-मध्यमता और मलिनता है । इन तीनों की दृष्टि से ही निम्न लिखित वस्तुओंके तीन २ भेद हैं, अर्थात् सात्त्विक, राजसिक और तामसिक:-भोजन-यज्ञ-तप-दान-अर्द्धा-त्याग-ज्ञान-कर्म-कर्ता-वृद्धि-धृति-सुख-जाति आदि ।

टिप्पणी ।

यह सृष्टिक्रम, सांख्य और वेदान्त मतों के अनुसार है । सांख्यमत की प्रकृति का नाम ही माया है । सांख्यमत, प्रकृतिको जड़ कहने पर भी स्वयं कर्ता और स्वयंभु मानता है । वेदान्त का मत है कि प्रकृति स्वयं कर्ता नहीं है । जब इसका अधिप्राता ब्रह्म होता है, तबही यह संसार रचना कर सकती है—ब्रह्म के बिना नहीं । केवल सांख्यमत मानने से यह शंका उठती है कि जड़ प्रकृति चैतन्य की सहायता के बिना कैसे रचना कर सकती है । सांख्य का पुरुष तो सर्वथा अकर्ता ही माना गया है, और यही कहा गया है कि प्रकृति, पुरुष के सामने, अपनी शक्ति से संसाररचना का तमाशा दिखाती है । गीता में इस शंका को दूर करने के लिये वेदान्तमतानुसार, माया को ब्रह्म की एक अनिर्वचनीय शक्ति मानी है । अव्यक्तरूप छोड़कर व्यक्त रूपमें आनेकी क्रिया का नाम योग है, और वह शक्ति, जो इस क्रिया का फल है, माया है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं । सांख्य में प्रकृति के आठ भेद मुख्य माने हैं, अर्थात् अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ—वाक्कीके १६ तत्त्व, विकार हैं । सृष्टिक्रम इस तरह है; परन्तु प्रकृति के एक रूपको अपरा कहा है और दूसरे को परा, जो सब भूतोंकी योनि है, जिसमें परमात्मा गर्भबीज धरता है और जिससे संसार की उत्पत्ति होती है । यह सृष्टिक्रम गुणविकास वाद के अनुसार है, जिसको आज कल के पाश्चात्य धुरन्धर विज्ञानवेत्ता भी मानते हैं । इस सृष्टिक्रम में कणाद के परमाणुवाद का समावेश नहीं है ।

जीव ।

अ. १५ श्लो. ७, ८ जीव, ईश्वर का अंश है और अनादि और अनन्त है । वह प्रकृति में स्थित हो मनसहित सब इन्द्रियों का आकर्षण करता है ।

जब वह शरीर ग्रहण करता और छोड़ता है, तब इन सब इन्द्रियों को लेकर ऐसे ही निकल जाता है, जैसे कि वायु, सुगंधित-पुष्प वाटिकाओं से सुगंधि लेजाती है । कान, नेत्र, त्वक्, जिह्वा,

अ. १५ श्लो. ९ नाक और मन; इन इन्द्रियों पर अधिकार कर वह

अ. १३ श्लो. २१, २२ इनके विषयों को भोगता है । सुख दुःख भोगों का हेतु जीव ही है । वह प्रकृति में स्थित हो, प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है । इन गुणों के साथ संपर्क होने से उसे अच्छे बुरे जन्मों में जाना पड़ता है ।

अ. ३ श्लो. ४२ जीव, बुद्धि से परे है, बुद्धि, मन से परे है और मन,

अ. २ श्लो. १२ इन्द्रियों से परे है । न कभी जीव का जन्म हुआ है

” ” १३ और न कभी उस की मृत्यु होगी । जैसे शरीर में बैठ कर वह कौमार, यौवन और वृद्ध अवस्था को भोगता है, वैसे ही शरीर छोड़ने पर वह दूसरी

” ” १८ देह में चला जाता है । जिन शरीरों को जीव धारण करता, वे नाशमान हैं; परंतु वह स्वयं अवनाशी,

” ” २० नित्य और अप्रेम्य है । न वह जन्म लेता है, न मरता है, न होकर कभी नहीं होता है । वह अजन्मा,

नित्य, अविनाशी और सनातन है । संसार का नाश होने से उसका नाश नहीं होता है । जैसे मनुष्य,

” ” २२ पुराने कपड़े फेंक नये कपड़े पहरता है, वैसे ही जीव, पुराने शरीरों को छोड़ नये शरीर धारण करता है ।

न उसे शंख काट सकते है, न अग्नि जला सकती है, अ. २ श्लो. २३
 न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है।
 वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। " " २४
 वह सनातन, सर्वगामी और अवाध्य है। शरीर
 में रहते हुये भी जीव अवाध्य है, सुख से रहता " " ३०
 है, न कुञ्ज करता है और कुञ्ज कराता है। अ. ५ श्लो. १३
 सब काम प्रकृतिके गुण है। अहंकार से धोखा अ. ३ श्लो. २७
 खाकर मनुष्य कहता है कि मैं करता हूँ; परन्तु " " २८
 वास्तव में जो कुञ्ज होता है, वह गुण ही करते हैं।
 गुणों में प्रवृत्ति गुण ही कराते हैं और वेही विचरते हैं।
 सब काम प्रकृति का ही है; जीव निष्कर्म है। अ. १३ श्लो ३०.
 अज्ञानी मनुष्यों को यह नहीं मालूम है कि जीव, गुणों अ. १५ श्लो. १०, ११
 के कारण कब जाता है, कब रहता है और कब भोग
 करता है; परन्तु पंडित और बुद्धिमान मनुष्य इस
 बात को जानते हैं।

टिप्पणी

गीता का जीवविचार न्यायवैशेषिक के मत को
 लेता हुआ वेदान्त सिद्धान्तों से मिलगया है। जीव
 के जो लक्षण कहे हैं, वे न्यायवैशेषिक मत से मिलते
 हैं; परन्तु न्याय का अनेक जीव होनेका सिद्धान्त
 नहीं दिखाई देता है; क्यों कि यह कहा गया है कि ब्रह्म
 के एक अंश से सब जीव हैं। इससे सब जीवों की एकता
 और ब्रह्मकी एकता का लक्षण होता है। यह वेदान्त मत
 है। वेदान्त मतानुसार, जो लक्षण न्याय और वैशेषिक
 जीव के हैं, सूक्ष्म शरीर के हैं, जो आत्मा के ऊपर एक
 माया का खोल है। यह जीव चार २ जन्म लेता
 है और इच्छा राग द्वेषादि विषयोंका स्थान है।

परमात्मा ।

- अ. १५ श्लो. १६ संसार में दो पुरुष हैं, एक क्षर, दूसरा अक्षर ।
जितनी चीज़ें प्रकृति की बनी हैं, सब क्षर हैं,
” ” १७ अर्थात् नाशमान हैं, और जीव अक्षर है। परन्तु एक
इन से भी श्रेष्ठ पुरुष है, जो पुरुषोत्तम कहलाता है ।
वह अनादि, अनन्त, चराचर का पोषण करने
वाला तीनों लोक में व्याप्त है ।
- अ. १३ श्लो. २३ वही उपदृष्टा-अनुमन्ता-भर्ता-भोक्ता और महेश्वर
है । वही परमात्मा है और इस शरीर का पुरुष है ।
- अ. ५ श्लो. १४ वही संसार का प्रभु है । वह, न कर्तृत्व, न कर्म
और न कर्मफल से सम्बन्ध रखता है । ये सब
प्रकृतिस्वभाव से ही होते हैं । उसे पाप और
” ” १५ पुण्य से सम्बन्ध नहीं है । वह सर्व लोकों का
” ” २९ महेश्वर है और सब भूतों का सुहृद् है । सब का
अ. ७ श्लो. ६ आदि कारण है । उस से बड़ा कोई नहीं है । जैसे
” ” ७ सूत्र में मोती विधे हैं, वैसे ही यह सब का आधार
अ. ७ श्लो. ८ है । वह जल का जलत्व है । सूर्य चन्द्र का प्रकाश
है । वेदों का पवित्र शब्द ॐ है । आकाश का गुण,
” ” ९ शब्द, वही है । मनुष्यों का मनुष्यत्व वही है । पृथिवी
का गुण, गंध, अग्निका गुण, तेज, वही है । सर्व जीवों
” ” १० का आधार और तपस्वियों का तप वही है । बुद्धि-
” ” ११ मानों की बुद्धि, प्रतापियों का प्रताप, बलवानों का
बल, इच्छाद्वेष से रहित मनुष्यों की इच्छा, वही है ।
” ” १२ उसी से सत्त्व-रज-तम भावों की सत्ता है; परन्तु

वह इनमें नहीं है । अज्ञानी मनुष्य, उस अव्यक्त अ. ७ श्लो २४
को व्यक्त समझते हैं । अपनी योगमाया में छिपारहने " " २५
से वह दिखाई नहीं देता है । भूत, भविष्यत् भावों " " २६
के सब जीवों को जानता है; परन्तु उसे कोई नहीं
जानता है । वह सब देव, सब भूत और सब यज्ञों " " ३०
का अधिष्ठाता है ।

उस अव्यय अव्यक्त ब्रह्म का लक्षण, आत्मज्ञान है । अ. ८ श्लो. ३
उसका अक्षररूप पुरुष है और क्षररूप प्रकृति है । " " ४
वह सनातन है, सर्वज्ञ है, संसार का ईश है । सूक्ष्म से " " ९
सूक्ष्म है । सब का आधार है । अव्यक्त प्रकृति से ऊंचा " " २०
है, अनन्त है, संसार के नाश होने से उस का नाश
नहीं होता है । जैसे सब वायुका आधार आकाश अ. ९ श्लो ६
है, वैसेही सब जीवों का आधार, ईश्वर है । ताप
उसी से है, वर्षा उसी से है । जीवन, मृत्यु, सत्, अ. ९ श्लो. १९
असत्, सब वही है । सब जीवों के आदि, अंत अ. १० श्लो २०
और मध्य में स्थित है । सब देवताओं में और
सब चर अचर जीवों में, जो कुछ श्रेष्ठता, प्रभाव
और उत्तमता है, सब उसी की है । उसके सर्वत्र
हाथ, पैर, नेत्र शिर और मुख हैं । ज्ञानेन्द्रियां उसी अ. १३ श्लो. १४
से काम करती हैं । परन्तु वह इन्द्रियां नहीं है । वह " " १५
निर्गुण है । वह पासभी है और दूरभी है । सूक्ष्म होने " " १६
से प्राप्ति का विषय नहीं है । अखंड होने परभी सब " " १७
जीवोंमें पृथक् चर्तमान है । सब के हृदय में स्थित है ।
ज्ञान, ज्ञाता ज्ञेय, सब वही है । वह स्वयं कुछ नहीं अ. १३ श्लो २०
करता है, और न उसे कर्मों का फल होता है । " " ३२

- अ. श्लो. ३३ यह सब कर्म गुणों से होते हैं। जैसे सर्वव्यापी
 आकाश अपनी सुद्धता के कारण किसी वस्तु
 से मलिन नहीं होता है, वैसेही वह सर्वव्यापी
 होने पर किसी से नहीं मिलता है। जैसे
 " " ३४ एक सूर्य सब संसार को प्रकाश देता है, वैसेही वह
 एक सर्व ब्रह्माण्डों का प्रकाश करने वाला है। पृथिवी
 अ. १५ श्लो. १३ तत्त्व में व्यापक होने से सब भूतों को जीव दान देता
 है। सोमरूप होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता
 है। अग्निरूप होकर सब प्राणियों का प्राण है।
 " " १४ जठराग्नि होकर सब अन्न को पचाता है। जब
 जब धर्म की ग्लानि होती है और असत्य और
 अधर्म का प्रभाव बढ़ता है, तब २ अवतार
 " " १३ लेकर धर्म स्थापन करता है। चारों जातियां,
 गुण और कर्म, उसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं।
 यद्यपि वह स्वयं कर्मरहित है, तथापि यह सब कुछ
 " " १४ उसी के प्रभाव से है। वह न कर्म करता है
 और न उसे कर्म का फल लगता है।

टिप्पणी ।

गीता में परमात्मा के अव्यक्त और व्यक्त, अर्थात्
 निर्गुण और सगुण दोनों रूप माने हैं।

वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म को भी माना है और न्याय के
 सगुण ईश्वर को भी माना है।

इस परमात्मारूपवर्णन में दोनों रूप आगये हैं। ज्ञान
 मार्ग और भक्तिमार्गवालों के लिये गीता का परमात्मा
 एकसाही सन्तोषदायक है। द्वैत और अद्वैत दोनों

मतवालों के लिये इसमें परमात्मा है।

किसी मतवाले को विवाद करने की आवश्यकता नहीं है

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

गीता के १५ वें अध्याय के ७ श्लोक से, तथा १३ वें अध्याय के १७ श्लोक से यह सम्बन्ध इस प्रकार ज्ञात होता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतःसनातनः। अ. १५ श्लो. ७

अर्थ—जीवलोक में मेरा एक अंश जीव का रूप होता है। वह सनातन है।

अविभक्तां च भूतेषु विभक्तामिव च अ. १३ श्लो. १७
स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं यसिष्णु
प्रभविष्णुच ॥

अर्थ—स्वयं भागरहित है, अर्थात् उसके भाग नहीं हो सकते हैं, तथापि सब प्राणिभूतों में अलग २ स्थित है। उसे सब प्राणियों का भर्ता जानो। वही भोजन करता है और वही उत्पन्न करता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। आत्मा, ब्रह्म का ही एक अंश है; परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि ब्रह्म के भाग हो

सकते हैं। पृथक्ता केवल देखनेमात्र ही है। वह अज्ञान से दिखाई देती है। आकाश सर्वव्यापी है और उसके भाग नहीं हो सकते हैं, तथापि पृथक् २ वस्तुओं में रहने से विभक्त दिखाई देता है, जैसे, जो आकाश एक घट में व्याप्त है, वह दूसरे घट के आकाश से पृथक् दिखाई देता है; परन्तु वास्तव में पृथक् नहीं है। सब एकही है। इसी प्रकार जीव पृथक् २ दिखाई देते हैं; परन्तु वास्तव में सब एकही हैं। इन सब जीवों को समष्टिदृष्टि से देखा जाय, तो ब्रह्म है, और व्यष्टिदृष्टि से देखा जाय, तो पृथक् २ जीव हैं।

दोनों ही वास्तव में कर्म से रहित हैं। गुणों के कारण कर्म करते दिखाई देते हैं। सब कर्म, गुण ही करते हैं। जब जीवका संपर्क गुणों के साथ होता है, तब उसे जन्म मरण के बन्धन लगते हैं।

परमपद (मोक्ष)

- अ. १८ श्लो. ५६, ६२ यह अव्यय और शाश्वत शान्ति और ब्रह्म के निरन्तर अमृतरूपी धर्म और सुख का स्थान है। मनुष्य, जन्म, अ. १४ श्लो. २७, २० मृत्यु, जरा, दुःख, पाप, कर्म बन्धन और उन के अच्छे बुरे फल और माया के प्रपंच से कूटकर इस अवस्थामें अ. ७ श्लो. १४ होकर परमात्मामें प्रवेश करता है उसीमें लय हो जाता है, अ. २ श्लो. ७२ अर्थात् निर्वाण प्राप्त करता है, जो ज्ञानकी चरम सीमा है, और वह परम और अनन्त अमृतरूपी सुख प्राप्त अ. ८ श्लो. १० करता है। इसे प्राप्त कर वह फिर इस नाशमान और दुःख-पूर्ण संसार में नहीं आता है। यह परमपद ऐसा स्थान अ. १५ श्लो. ६ है, जहाँ न सूर्य, न चन्द्र, न तारागण और न अग्नि पहुँच सकते हैं।

टिप्पणी

परमपद का वर्णन ऐसा है कि जिसमें वेदान्त, सांख्य, न्यायादि दर्शनों के मोक्षरूप का आदर्श आगया है। सब मतवाले अपने विचारों के अनुसार इस परमपद को कह सकते हैं। निर्वाण, कैवल्य, अपवर्गादि, सभी का सार इसमें आगया है।

परमपदप्राप्ति का मार्ग।

मुझ में ही मन लगाओ। मुझ में ही बुद्धि अ. १२ श्लो. ८
 लगाओ। तुम निश्चय ही इस जन्म के पीछे मुझ में
 प्रवेश होकर रहोगे। यदि मुझमें दृढता से चित्त " " ९
 नहीं लगा सकते हो, तो योग के अभ्यास से मेरे
 पास आने की चेष्टा करो। यदि यह अभ्यास भी " " १०
 नहीं कर सकते हो, तो सत्कर्मपरायण हो कर
 सब कर्म मेरे निमित्त ही करो। यदि इसके करने " " ११
 की भी सामर्थ्य न हो, तो अपने को यत्तेन्द्रिय बनाकर
 और मेरी शरण लेकर सब कामों के फलों को
 त्याग कर दो।

योगअभ्यास से ज्ञान बढ़कर है। ज्ञान से ध्यान " " १२
 बढ़कर है। ध्यान से कर्म फलों का त्याग
 बड़ा है। त्याग से ही निरन्तर शान्ति होती है।

कोई, ध्यान द्वारा आत्मा से आत्मा में आत्मा को अ. १३ श्लो २५
 देखते हैं; कोई, सांख्य योग से और कोई, कर्म
 योग से। जिन्हें यह बात नहीं मालूम है और " " २६

दूसरों से सुनकर ही उपासना करते हैं, वे भी मृत्यु के पार होजाते हैं ।

टिप्पणी ।

इन महत्त्वशाली वाक्यों के पढ़ने से मालूम होता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये श्रीकृष्ण सभी मार्गों को उपयोगी समझते हैं । किसी मार्ग की निन्दा नहीं करते हैं, और न किसी मार्ग की अतिशय प्रशंसा करते हैं ।

तथापि सब में सरल मार्ग निष्काम कर्म-कर्माही बताया है । इच्छा से कर्मों के फलों को त्याग करदेना ही, त्याग है, न कि कर्म त्याग करदेना । इसी त्याग को निरन्तरशांति का साधन बताया है । इस से यह अभिप्राय नहीं है कि ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्गादि अच्छे साधन नहीं हैं, किन्तु यह कि कर्ममार्ग सबमें सरल है और उसके करने में मनुष्यों को वैसी कठिनाइयाँ नहीं हैं, जैसी दूसरे मार्गों के साधन में हैं ।

कर्म ।

अ. ३ श्लो. ५

यदि मनुष्य चाहे कि मैं कर्म को विलकुल नहीं करूँ, तो असम्भव है; क्यों कि स्वभाव, गुणों से प्रेरित होकर, उसे कुछ न कुछ कर्म कराता ही है । कर्म करने वाले, केवल प्रकृति के गुण ही है । अहंकार से धोका खाकर मनुष्य कहता है कि मैं करता हूँ; परन्तु वास्तव में गुण ही करते हैं, जीव नहीं ।

” ” २७

” ” ३३

ज्ञानवान् मनुष्य भी स्वभाव के अनुसार ही कर्म करते हैं । स्वभाव का अनुसरण ही सब जीव करते हैं । इसलिये स्वभाव की प्रतिरोधता करना निरर्थक है ।

कर्मों के पांच कारण हैं: १ शरीर २ कर्ता ३ पृथक् २	क. १८ श्लो. १३
विधि की चेष्टायें ४ इन्द्रियां और ५ दैव अर्थात्	" " १४
उन का अधिष्ठाता देवता । जो कुछ भी कर्म,	
मनुष्य, शरीर, वाणी अथवा मन से करता है, यह कर्म	
अच्छा हो या बुरा, उसके ये ही पांच हेतु हैं । जो	" " १६
कहता है कि कर्मों की करने वाली आत्मा है, वह	" " १८
दुर्मति है और अज्ञान है । कर्म को प्रेरणा करने	
वाले तीन कारण हैं, अर्थात् ज्ञान, श्रेय और ज्ञाता ।	
कर्म के तीन संगी हैं, अर्थात् करण (इन्द्रियां)	
कर्म और कर्ता । ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुण	" " १९
भेद से तीन प्रकार के हैं ।	
जो नियतकर्म, कर्मफल की इच्छा, राग द्वेष और	" " २३
मोह छोड़ कर किया जाता है, वह सात्त्विक है	
जो कर्म कामना से, अहंकार से, अथवा बहुत	" " २४
प्रियास से किया जाता है, वह राजसी है । जो कर्म	
मोह से किया जाय और जिसमें यह विचार नहीं रहे	" " २५
कि यह दूसरों को हानि दायक है और इसका	
अनुचित फल होगा और अपने समर्थ से भी	
बाहर है, वह तामसी है ।	

टिप्पणी ।

कर्मविचार सांख्यमत प्रधान है । कर्म करना प्रकृति के गुणों का कार्य है । केवल अहंकार के कारण उनमें ममत्व हो जाता है । शुद्धचित्, नित्य, मुक्त आत्मा, कर्म नहीं करती है, बल्कि प्रकृति से बनाहुआ सूक्ष्मशरीर ही कर्म करता है । इसमें अहंकार बंधन कराने वाला है ।

प्रकृति में सत्त्व, रज और तम, तीन गुण हैं । इस लिये सब कर्म तीन प्रकार के हो सकते हैं । इनमें सात्त्विक कर्म श्रेष्ठ है । कर्मों का चक्कर रजो गुण से उठता है, जो कामको उत्पन्न करता है । यह काम सबको मोह में डालता है और उसी से कर्म की उत्पत्ति होती है ।

कर्त्ता ।

- अ. १८ श्लो. २६ जो कर्त्ता संग और अहंकार रहित, धृति और उत्साह संयुक्त है और सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार है, वह सात्त्विक है । जो कर्त्ता रोगी, कर्म फलों की इच्छा रखने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अशौची और हर्ष शोक संयुक्त है, वह राजसी है ।
- ” ” २७ जो कर्त्ता अयुक्त अर्थात् अनिश्चित, प्राकृत अर्थात् सामान्य, जिही, शठ, द्वेषी, आलसी, विषादी, दीव्र-सूत्री अर्थात् टालाटूली करने वाला है, वह तामसी है ।

ज्ञान ।

- अ. १८ श्लो. २० वह ज्ञान, जिससे सब पृथक् २ जीवों में एक अव्यय अविभक्त ब्रह्म एक भाव से दिखाई दे, सात्त्विक है । (अद्वैत)
- ” ” २१ वह ज्ञान, जिससे सब जीवों में पृथक् २ भाव पृथक् २ दिखाई दें, राजसी है । (द्वैत)
- ” ” २२ वह ज्ञान, जिससे कारण और सत्यता जाने बिना ही मनुष्य किसी चीज को पूरी समझता है और जो अल्प है, तामसी है । (चारवाक)

जो अहंकार का अश्रय लेकर यह कहे कि मैं ऐसा करूंगा, उसका व्यवसाय मिथ्या है; क्योंकि उससे वह काम, प्रकृति स्वयं करवालेगी। मोहवश होकर कोई किसी काम को नहीं भी करना चाहे, तबभी स्वभाव कर्म से बंधे होने के कारण उसे वह काम करना ही पड़ता है। आत्मा न स्वयं कर्ता है और न कर्म करने वाला है। जो कुछ कर्म होता है, उस का कर्ता स्वभाव (प्रकृति) ही है। जो, गुणकर्मविभाग को जानता है और यह जानता है कि गुण गुणों में ही विचरते हैं, वह मोहवश नहीं होता है और तत्त्ववेत्ता कहलाता है; परन्तु, जो यह बात नहीं जानता है, वह अज्ञानी है।

अ. १८ श्लो. ५९ ..

" " ६०

अ. ५ श्लो. १३, १४

अ. ३ श्लो. २८, २९

पाप कैसे होता है ।

काम और क्रोध, रजोगुण से उत्पन्न होते हैं और संसार में बड़े शत्रु हैं। इन्हीं के कारण पाप का बीज लगता है। जैसे अग्नि को धूँआ घेरे हुये है, जैसे दर्पण को मल घेरे हुये है, जैसे गर्भ को उल्व घेरे हुये है, वैसे ही रजोगुण को काम क्रोध घेरे हुये हैं। यह निरन्तर शत्रु, ज्ञान को ढककर कामरूप में हो जाता है और जैसे अग्नि की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही इस काम की। काम, इन्द्रियां, मन और बुद्धि में स्थित हो जाता है। इन्द्रियां, सब ज्ञान को ढककर जीव को मोह में डाल देती हैं। इसलिये इन्द्रियादि को पहले ही वश में करना चाहिए। इससे पाप उत्पन्न करने वाली वस्तु, जो ज्ञान विज्ञान का नाश करती है, नष्ट हो जायगी।

अ. ३ श्लो. ३७, ३८

" " २६

" " ४०

" " ४१

- अ. २ श्लो. ६२, जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों पर ध्यान करता है, तब उस को उन्हीं के साथ सङ्ग उत्पन्न हो जाता है ।
- ” ” ६३ इस सङ्ग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिविभ्रम होता है, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धिनाश से सर्व नाश हो जाता है ।
- ” ” ६४ जो आत्मा को वश करके और रागद्वेष छोड़ कर इन्द्रियविषयों में भ्रमण करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है ।

कर्मयोग ।

- अ. ३ श्लो. ७ इन्द्रियों को मन से वशीभूत कर और कर्मेन्द्रियों पर अधिकार कर जो कर्म किया जाता है, उस का नाम कर्म योग है । जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों को तो वश में कर लेता है; परन्तु मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता रहता है; वह विमुदात्मा और मिथ्याचारी है, कर्मयोगी नहीं । पहले इन्द्रियां हैं, फिर मन, फिर बुद्धि, फिर आत्मा । इसलिये पहले इन्द्रियों को वशमें करना चाहिये ।
- ” ” ४२ आत्मा को बुद्धि से परे जान और मनादि इन्द्रियों को जीत, कामरूप महाशत्रु को जीतना चाहिए ।
- अ. २ श्लो. ४८ इन्द्रियविषय सङ्ग त्यागकर, योगस्थ हो और सिद्धि असिद्धि में सम हो, कर्म करना चाहिये । इस समत्व का नाम ही योग है । जिस मनुष्य का इन्द्रिय-विषयसङ्ग जाता रहा है; जिसका चित्त ज्ञान अवस्था

में स्थित हो गया है, जिसके कर्म यज्ञ समान हैं, उसके सब कर्मों का लोप हो जाता है । जो अहंकाररहित है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं हुई है, वह कर्मों से नहीं बंधता है । जो मनुष्य इन्द्रिय-विषय-सङ्ग त्यागकर सब अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण करता है, वह, जैसे कमल का पत्र जल में रूटे हुए भी जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे पाप से लिप्त नहीं होता है । योगी जोग इन्द्रिय-विषय-सङ्ग त्यागकर केवल आत्माशुद्धि के लिये काय, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से काम करते हैं । जो कर्म-फल को त्यागकर कर्म करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है और जो काम से प्रेरित हो कर्मफल चाहता हुआ कर्म करता है, वह बंधन में पड़ता है ।

अ. १८ श्लो. १७

अ. ५ श्लो. १०

अ. ५ श्लो. ११

अ. ५ श्लो. १२

इसलिये जो कुछ भी किया जाय, जो कुछ भी खाया जाय, दिया जाय, तप किया जाय, वह सब ईश्वर के अर्पण करके ही करना चाहिये । जो मनुष्य अपने कर्मों को ईश्वर के अर्थ ही करता है और फलकी कामना त्याग देता है, वही वास्तव में योगी और सन्यासी है । क्योंकि कर्मोंको त्याग करने से कर्मोंका इस तरह करना अच्छा है । मूर्खलोग कर्मोंको फलकी कामना से करते हैं, परन्तु ज्ञानवान् मनुष्य इस कामनाको छोड़केवल लोकपरोपकार के लिये ही कर्म करते हैं ।

अ. ९ श्लो. २७

अ. ६ श्लो. १

अ. ३ श्लो. २५

हमारा अधिकार कर्म करने पर ही है, न कि उसके फलकी इच्छा पर । इसलिए हमारे कर्म करने का हेतु कर्म फलकी कामना नहीं होनी चाहिए और न अकर्म में ही प्रवृत्ति होनी चाहिये ।

अ. २ श्लो. ४७

अपना नियत कर्म करने से ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त

अ. १८ श्लो ४५, ४६

- होती है। ऐसे कर्म को फलकामनारहित करने से ही ईश्वर की पूजा और आराधना होती है। इसी से परमपद प्राप्त होता है। कर्मों के करने वाले प्रकृति के तीनों गुण ही हैं, न कि आत्मा। मूढ़ कहते हैं कि हम कर्म करते हैं; परन्तु करने वाले तो वास्तव में गुण ही हैं, न कि जीव। जो ज्ञानवान् हैं, वे कर्म को अकर्म जानते हैं और अकर्म को कर्म। वे कर्म फल को त्यागकर निरन्तर सुखी रहते हैं। वे फिर कोई आशा नहीं रखते, निर्विन्द और सिद्धि अस्सिद्धि में एकसे रहते हैं। इन्हे कर्मों का बन्धन नहीं होता है।
- अ. ३ श्लो. १९
- ” ” २०
- ” ” २१
- अ. ४ श्लो. १८
- ” ” २०
- ” ” २१
- ” ” २२
- अ. ३ श्लो. ८
- ” ” ५
- ” ” ६
- ” ” ८
- अ. ३ श्लो. ३५
- अ. १८ श्लो. ४८, ४७
- यदि कोई चाहे कि मैं कर्म सर्वथा त्याग दूं, तो हो नहीं सकता है; क्योंकि कर्म किए बिना शरीर भी नहीं रह सकता है। कर्मों का त्याग करना असम्भव है। और उनके त्याग करने से उनसे छुटकारा भी नहीं हो सकता है; क्योंकि प्राकृतिक गुणों के कारण मनुष्य स्वयं कर्म करने को प्रेरित होता है।
- कर्मों का बन्धन तभी होता है जब कर्म स्वार्थ और फल कामना से, किये जायं। यदि ईश्वर के अर्थफल कामना त्यागकर किये जाय, तो बन्धन नहीं होता है। इसलिए अपने नियत कर्म इस भावसे अवश्य करने चाहिये। दूसरे का कर्म यदि तुम्हारे कर्म से अच्छा भी दिखाई दे, तब भी अपना ही कर्म करना चाहिये।
- जैसे अग्नि में धूआं वास करता है, वैसेही सब कर्मों में दोष भी मिले रहते हैं; इसलिये अपना कर्म बुरा

समझ कर नहीं छोड़ देना चाहिए । और दूसरे को कर्म निर्दोष समझ कर भी नहीं करना चाहिये । इसमें हानि होती है । अपना कर्म करने में पाप नहीं होता है । कर्म करने से ही जनकादि महान पुरुषों को सिद्धि प्राप्त हुई है । यदि ऐसी अवस्था पर पहुंच जाय कि उसे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रही है, तब भी कर्म करना त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि बड़ों का अनुसरण सवही करते हैं । श्रीकृष्ण को कर्म करने की आवश्यकता नहीं थी; परन्तु संसार मर्यादा रखने को वह कर्म करते रहे । यदि वह कर्म नहीं करते, तो संसार में धर्म का लोप हो जाता और सब तरह की आपत्तियां, आजातियां । यदि सामान्य मनुष्य फल इच्छासे ही कर्म करते हैं, तब भी ज्ञानवानों को उन्हे कर्म करने से अरुचि नहीं दिलानी चाहिए । अपने कर्म ईश्वरहेतु करते हुये उन्हे उपदेश देना चाहिये ।

अ. १६ श्लो. २०

..

..

..

..

चारों जातियों के कर्म उनके गुण स्वभाव से इस तरह कहे हैं:—

अ. १८ श्लो. ४१

ब्राह्मण—शम-दम-तप-शौच-ज्ञान्ति-आर्जव-ज्ञान-विज्ञान-आस्तिकता; ये ब्राह्मणों का स्वभाविक कर्म हैं ।

..

क्षत्रिय—शौर्य-तेज-धृति-दाक्ष्य-युद्धसे नहीं भागना-दान-ईश्वरभाव; ये क्षत्रियों का स्वभाविक कर्म है ।

..

वैश्य—कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य; ये वैश्यों का स्वभाविक कर्म है ।

..

शूद्र—दूसरों की परिचर्या करना; यह शूद्रों का स्वभाविक कर्म है ।

१. १८ श्लो. ७ नियत कर्म करने चाहिये; क्योंकि इनका त्याग
- ” ” ५ करना अच्छा नहीं है। यज्ञ-दान-तपादि सर्वदा ही करने चाहिये; क्योंकि इनसे आत्मा की शुद्धि होती है। परन्तु इनके करने में फलकामना त्याग कर देनी चाहिये।
- ” ” ११ कर्मत्याग नहीं; बल्कि कर्मफलत्याग ही सदाचार और धर्माचरण का रहस्य है।
- ” ” ७ मोहसे नियतकर्मों को छोड़ देना, तामसी त्याग है।
- ” ” ८ शारीरिक दुखों के कारण इन्हे छोड़ देना, राजसी त्याग है। जो मनुष्य नियतकर्मों को आवश्यक समझ कर उन्हें बराबर करते रहते हैं; परन्तु कर्मफलकामना छोड़ देते हैं, उनका ही त्याग सात्त्विक है।
- ” ” १० कर्म रोचक हो अथवा अरोचक, उसे नियत कर्म समझकर अवश्य करना चाहिये।
- गुणों के कारण कर्ता और कर्म के तीन भेद हैं—
- ” ” २३ जो कर्म, राग-द्वेष, इन्द्रिय विषय सङ्ग और फलकामना
- ” ” २४ छोड़कर किया जाता है, वह सात्त्विक है। जो कर्म अहंकार-कामना अथवा बहुत प्रयास से किया जाता है, वह राजसी है। जो कर्म अपने पौरुष की सीमा छोड़ कर दूसरों को हिंसा अथवा क्षय कारी हो और मोह से किया जाय, वह तामसी है।
- ” ” २६ इसी प्रकार सात्त्विक कर्ता वह है, जो इन्द्रियार्थसङ्ग और अहंकार छोड़कर धृति और उत्साहसहित होकर और सिद्धि असिद्धि में निर्विकार रहकर कर्म करता है।

जो कर्म करने वाला रोगी है, कर्मफल की कामना करता है, लुब्ध है, अशुचि है, हिंसात्मक है और हर्ष शोक युक्त है, वह राजोगुणवाला है ।

अ. १८ श्लो. २७

जो कर्म करने वाला अयुक्त है, प्राकृत है, स्तब्ध है, शठ है, नैष्कृतिक है, आलसी है, विपादी है, दीर्घसूत्री है, वह तामोगुणवाला है । सात्त्विक कर्म करना और सात्त्विक कर्ता होना, कर्मयोग का मुख्योद्देश है ।

” ” २८

टिप्पणी ।

कर्मयोग से अभिप्राय कर्मकाण्डसम्बन्धी कर्म जैसे यज्ञयागादि करना नहीं है । इन कर्मों के करने की मनाई नहीं है, बल्कि जो २ जिस जाति का कर्म हो सभी करने चाहिये । गीता के कर्मयोग का अभिप्राय यह है कि जो कुछ भी नियत कर्म हो उसको साम्य बुद्धि से और फलकामना छोड़कर करना चाहिये । निष्कामकर्म करने पर गीतामें जो ज़ोर दिया गया है वह और किसी धर्मग्रन्थ में नहीं पाया जाता है । यह बात गीता की अपूर्वता को बताती है । मान्यवर तिलक ने गीतारहस्य में कर्मयोग को ही गीता का मुख्योद्देश माना है और बड़ी विद्वत्तासे बताया है कि अर्जुन को गीता सुनाने का अभिप्राय यही था । इस के साथ यह भी कहा है कि कर्मयोगविषय, गीता में नया नहीं है; किन्तु प्राचीन भागवतधर्म के आधार पर है । गीता की परंपरा को देखाजाय, तो भागवतधर्म ही इसका स्रोत प्रमाणित होता है । भागवतधर्म के प्राचीन कर्मयोगोपदेश को गीता में श्रीकृष्ण ने नये ढंगपर बताया है ।

इस में कोई सन्देह नहीं कि गीता का कर्मयोग विलक्षण है, और कलियुग में इससे उत्कृष्ट धर्म का और कोई मार्ग नहीं है। इस उपदेश के आधार पर राष्ट्रीय सामाजिक आदि सभी उन्नतियाँ हो सकती हैं। श्रीकृष्ण जी. ने ज्ञानमार्ग-भक्तिमार्ग-योगमार्ग-कर्म-काण्ड मार्ग अथवा सभी मार्गों को इस निष्काम कर्म-योग मार्ग से मिला दिया है।

ईश्वर पूजन के भिन्न २ मार्ग।

अ. २ श्लो. ४२, ४४

कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो वेदोंके अलंकारयुक्त व्याख्याओं में ही मग्न हैं। वेद के एक २ अक्षर पर वाद विवाद करने में लगे हुये हैं। इनकी कामना स्वर्गप्राप्ति की ही है। ये कर्मफल की इच्छा रखते हैं, और सुख और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये बहुत क्रियाएँ करते हैं। ये यौगिक समाधि का सेवन नहीं करते और उनकी बुद्धि व्यवसायात्मक है। ये लोग यज्ञ करके ईश्वर की पूजा करते हैं और स्वर्ग जाने कीही कामना रखते हैं। वे स्वर्ग पहुँचकर स्वर्ग का भोग करते हैं और जब उनके पुण्य क्षय होजाते हैं, तो इस मृत्युलोक में फिर आते हैं। इस तरह काम की कामना करने वाले केवल गतागत पद कोही प्राप्त होते हैं अर्थात् निरन्तर-मोक्षपद नहीं प्राप्त करते हैं। वेदविषय त्रिगुण सम्बन्धी है, और उससे गुण सम्बन्धिनी नाशमान वस्तुयेंही प्राप्त

अ. ९ श्लो. २०

” ” २१

अ. २ श्लो. ४५

होती हैं। इसलिये निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व नित्यसत्त्वस्थ
निर्योगक्षेम और आत्मवान् होना चाहिये।

ऐसे मनुष्य को वेदक्रियाएं ऐसी ही निरर्थक हैं,
जैसे जलव्याप्तस्थान में जलाशय।

अ. २ श्लो. ४६

यज्ञ

सृष्टि के आदि में जब मनुष्य जाति रची गई प्रजा-
पति ने यज्ञ को उत्पन्न किया और आह्वान करी कि
मनुष्य को सुख सम्पत्ति बढ़ाने के लिए यज्ञ सदैव
करना आवश्यक है। मनुष्य को देवताओं के लिये यज्ञ
करना चाहिए। देवता मनुष्यों की मनः कामनाएं पूर्ण
करते हैं। देवताओं को यज्ञ देने के पश्चात् भोजन
करना चाहिये। सब सृष्टि अन्न से होती है, अन्न वर्षा
से होता है। वर्षा यज्ञ से होती है। यज्ञ, कर्म से होता
है। कर्म, ब्रह्मा से होता है और ब्रह्मा अव्यय ब्रह्म से
होता है; इसलिये यज्ञ में ब्रह्म सदैव विद्यमान
रहता है।

अ. ३ श्लो. १०

” ” ११

” ” १२

” ” १३

अ. ३ श्लो. १४

” ” १५

यज्ञ बहुते प्रकार की हैं:—

कोई ब्रह्म की अग्नि में हवन करने से यज्ञ करते हैं।
कोई यम आदि अग्नि में इन्द्रियों को हवन करने से
यज्ञ करते हैं। कोई इन्द्रियों रूपी अग्नि में विषयों
को हवन करने से यज्ञ करते हैं। कोई आत्म दमन से
प्राप्त, योगरूपी अग्नि में इन्द्रियों के विषय और प्राण
को हवन करने से यज्ञ करते हैं।

अ. ४ श्लो, २४

” ” २६

” ” २७

कोई धनरूपी, कोई तपरूपी, कोई हठ योगरूपी,
कोई स्वाध्याय और ज्ञानरूपी यज्ञ करते हैं और मन
को वश में करते हैं और दृढव्रत होते हैं।

” ” २८

अ. ४ श्लो. २६

कोई प्राण को अपान में, अपान को प्राण में लंगाते हुये और प्राण और अपान के मार्ग को रोकते हुये प्राणायाम में मग्न हो यज्ञ करते हैं ।

” ” ३०

अ. ९ श्लो. १५

कोई नियताहारी हो स्वासों को स्वासों में डालते हुये यज्ञ करते हैं। कोई ज्ञानरूपी यज्ञ करते हैं। कोई ईश्वर को एक और अनेक सर्वत्र विद्यमान जानते हुए पूजते हैं। इस प्रकार ईश्वर के हेतु अनेक यज्ञ किये जाते हैं।

अ. ४ श्लो. ३२

अ. ६ श्लो. १६

इन सब की उत्पत्ति कर्म ही से है। जो ब्रह्म को ही अग्नि, होता, अरुणी अर्थात् दृवण की सब सामग्री जान कर, ब्रह्म में ही आत्मा को दृवण करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

अ. १२ श्लो. ३

” ” ४

” ” ५

” ” ७

अ. ७ श्लो. २८

” ” २९

कोई जितेन्द्रिय हो अक्षर अव्यक्त ब्रह्म को पूजते हैं। वे भी उसी पद को प्राप्त करते हैं। कोई सब कामों को ब्रह्म के अर्पण कर और ब्रह्म में ही तत्पर हो और ब्रह्म का ही ध्यान कर, योगयुक्त हो ब्रह्म को ही पूजते हैं। उनका बंधन इस भवसागर से जल्दी छूट जाता है। कोई अपने पाप कर्मों को धोकर और राग द्वेषादि ग्रन्थों से मुक्त हो केवल ब्रह्म का ही स्मरण करते हैं। कोई ईश्वर की शरण लेकर जन्म मृत्यु से छूटने के लिये चेष्टा करते हैं।

अ. ७ श्लो. १६

उपासक चार प्रकार के होते हैं:-

” ” १७

अ. ९ श्लो. ११, १२, १३, १४

अ. १३ श्लो. २५, २६

१ आर्त्त २ जिज्ञासु ३ अर्थार्थी और ४ ज्ञानी। इन सब में ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि वह एका भक्ति करने वाला है। उसका पूजन कोई तामसी, कोई सास्विक वृत्ति से, करते हैं। कोई इन्द्रियोंको जीतकर ध्यानयोग करते हैं। कोई सांख्ययोग करते हैं। कोई कर्मयोग करते हैं।

कोई दुखरों से जैसे सुना है वैसे ही ईश्वर की आराधना करते हैं। कोई कहते हैं कि कर्म करना पाप है और इस विचार से कर्मों को त्याग कर देते हैं। कोई कहते हैं कि यज्ञ कर्म दानादि का त्याग नहीं करना चाहिये। ईश्वरपूजन के अनेक मार्ग हैं। जो जिस मार्ग से ईश्वर के पास जाना चाहे, वह उसी मार्ग से उसका ग्रहण करता है। जो किसी रूप में भी ईश्वर को श्रद्धा पूर्वक पूजता है उस की वही श्रद्धा फली भूत होती है। सब यज्ञों का भोगनेवाला और सब का फल देने वाला केवल ईश्वर ही है। जो उसको नहीं जानते हैं, पतित हो जाते हैं।

अ. १८ श्लो ३

अ. ४ श्लो. ११

अ. ७ श्लो. २१, २२

अ. ९ श्लो. २४

टिप्पणी ।

पूर्वोक्त वाक्यों से विदित होगा कि श्रीकृष्ण ने अनेक मार्ग, जो प्राचीन समय में प्रचलित थे, बताये हैं और उनके फल भी कहे हैं। यज्ञ का विषय भी अच्छी तरह बताया है। यज्ञविषय में सबसे अच्छा यज्ञ वह बताया है जिसमें ग्रह कोही अग्नि होता मानकर आत्मा का दहन किया जाय, अर्थात् ज्ञानयज्ञ। अन्तमें इन सभी मार्गों को ईश्वर के पास पहुँचने का साधन माना है। कहा है कि जो श्रद्धापूर्वक ईश्वर को किसी रूप में भी पूजता है उसकी वही श्रद्धा फली भूत होती है।

श्रीकृष्ण के वाक्य बड़ी व्यापकता रखते हैं। किसी मत या सम्प्रदाय के विरोधी नहीं हैं। मतमतांतर के सब झगड़ों का समाधान कर दिया है। इसीलिये

गीता सब मत और सम्प्रदायों को प्रिय है, और उस पर अनेक भाष्य हैं ।

ध्यानयोग ।

- अ. २ श्लो. ४८, ५० समत्व का नाम योग है। कर्म में कुशलता का नाम योग है। योग, बुद्धियुक्त होकर करना चाहिये। इसमें सुकृत दुष्कृत दोनों छोड़ देने चाहिये। इससे भय दूर हो जाता है। सांख्य और योग भिन्न २ नहीं हैं। जो एक को जानता है वह दूसरे को भी जानता है। जो फल, सांख्यवाले को होता है, वह योगी को भी होता है। पांडित लोग सांख्य और योग में कोई भिन्नता नहीं देखते हैं।
- अ. २ श्लो. ५० योग करने को स्थिर बुद्धि की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि इसी से शुभ अशुभ कर्म का फलत्याग होता है।
- ” ” ५२ जब मन का मोह दूर होजाता है, तो सब वस्तुओं में
- ” ” ५३ वैराग्य उत्पन्न होजाता है, और समाधि में मन स्थिर हो कर योग की सिद्धि होजाती है।
बुद्धिस्थिरवालों को ये लक्षण हैं:—
- ” ” ५५ मनकी सब कामना का त्याग, आत्मा में आत्मा से
- ” ५६ ५७ आनन्द, आपत्ति में चिन्ता अभाव, सुख में विरक्तता,
- ५८, ५९, ६१ राग द्वेष भय क्रोधादि से विमुक्तता, सर्वसङ्गत्याग, विषयों से इन्द्रियों का जीतना, इन्द्रियाविषय के आस्वाद से विरक्तता। सब इन्द्रियों पर अधिकार। योगी को न बहुत अधिक और न बहुत कम भोजन करना चाहिये। न बहुत सोना चाहिये। न बहुत
- अ. ६ श्लो १६

जागना चाहिये । एकान्त पवित्र स्थान में योग आसन	अ. ६ श्लो. ११
लगाना चाहिये । उसका आसन तीन चौड़ाई का	
होना चाहिये, अर्थात् कपड़ा, कृष्ण हरिण का चर्म	
और कुशा । चित्त को एकाग्र कर इन्द्रियों को दमन	” ” १२
कर, निश्चल बैठ कर, देही, शिर और ग्रीवा को सीधी	” १३, १४
रख कर और नाक के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर,	
योग अभ्यास करना चाहिये । योगाभ्यास में शान्त	
चित्त, निर्भय, ब्रह्मचारी, और ब्रतस्थित होना चाहिये ।	
मन वश में कर ईश्वर का ध्यान करते हुए-उसी की	
प्राप्ति की इच्छा करते हुए योग करना चाहिये । योग	” ” १८
सिद्धि तबही होगी, जब बुद्धि आत्मा में स्थिर हो	
जायगी और सब कामनाओं के भाव जाते रहेंगे । ज्यों	
ज्यों मन चञ्चलता से दूर भागे, उसे वश में कर आत्मा	” ” २६
के आधिपत्य में नियुक्त करना चाहिये । मनको वश	” ” २५
में करना बड़ा कठिन है, क्योंकि वह अस्थिर और	” ” ३५
चञ्चल है; परन्तु बराबर अभ्यास करने से वह वश	
में हो सकता है । जिसका मन वश में नहीं है वह	” ” ३६
योग नहीं कर सकता है; परन्तु जिसके वश में मन है	
और जो यथोक्त साधन करता है, उसे योग होता है ।	
जिसने मन जीत लिया है, जो कर्म और इन्द्रिय	” ” ४
विषयों से असंग है, जिस की बुद्धि स्थिर है और	
जो लोभ और आशा से परे है, वह योगी है । जिस	
योगी की इन्द्रियाँ और मन वश में है और जिसे	अ. ६ श्लो ८
पाषाण पृथिवी और सुवर्ण, सब एक बराबर ही हैं, वह	
परम योगी है । ऐसा योगी सब को एक भाव से देखता	” ” ९
है, चाहे वह मित्रहो, शत्रुहो, देशीहो, विदेशीहो, प्रिय	
हो, सम्बन्धी हो, साधु हो, दुष्ट हो, कोई भी क्यों न	

अ. ६ श्लो. ३२

” ” २९

” ” ३०

अ. ५ श्लो. ११

हो। आत्मा की ऐक्यता के कारण सब वस्तुओं को एक-सी देखता है, चाहे वह वस्तु सुखदाई हो अथवा दुःखदाई हो। सब जीवों को अपने में और अपने को सब जीवों में देखता है। सर्वत्र एकसा भाव रखता है और ईश्वर का सदैव स्मरण करता है। ऐसे योगी को कर्म बन्धन नहीं होता है। यह जान कर कि इन्द्रियां अपना २ कर्म गुणों से करती हैं, वह उनका सङ्ग त्याग कर देता है। केवल आत्मशुद्धि के लिए ही मन-बुद्धि-शरीर और इन्द्रियों से काम करता है।

टिप्पणी ।

पातञ्जली योग शास्त्र में जो योग क्रियाएं बताई गई हैं, उसी के अनुसार यह ध्यानयोग है। इस में इतनी अद्भुतता अवश्य है कि योग का अर्थ केवल प्राणायाम ध्यान धारणा समाधि ही नहीं है, बल्कि कर्म कुशलता है। साम्य बुद्धि पर बड़ा जोर दिया है, और इस योग का रहस्य बुद्धि स्थिरता ही कहा गया है।

सांख्य और योग की एकता बताई है। उसका अभिप्राय यह है कि सांख्य का अर्थ ज्ञानमार्ग है और योग का व्यापक अर्थ कर्मकुशलता और बुद्धि समता है। ज्ञानमार्ग में भी बुद्धिसमता ही मुख्योद्देश्य है। बुद्धि के शुद्ध और स्थिर होने पर ज्ञानी को आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है, और उसका आचरण उसी साम्य बुद्धि से होने लगता है। योगमार्ग में भी बुद्धिसमता प्राप्त कर के वही कर्म कुशलता प्राप्त हो जाती है। इसलिये सांख्य (ज्ञान-

मार्ग) और योग एकही है। केवल बुद्धि हीन मनुष्य ही उन में अन्तर देखते हैं, ज्ञानी नहीं।

इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि ध्यानयोग के गौरव को पाश्चात्य विद्वान् अभी अच्छी तरह नहीं समझे हैं। वे इस कर्मकुशलता में कम हैं; भौतिक विज्ञान पर ही उन की दृष्टि है। मनोविज्ञानशास्त्र को भी तर्कदृष्टि से ही सिद्ध करते हैं; उस में योगशास्त्र का मेल नहीं करते हैं। प्राचीन भारत में योगसाधन से बड़े २ काम लिये गये थे। इस विषय में नये ढंगपर गविषणा होना अत्यावश्यक है।

ज्ञानयोग ।

ज्ञानयोग के अन्तरगत निम्न लिखित लक्षण हैं:—
 विनय, अदम्भता, अहिंसा, ज्ञान्ति, आर्जव, आचार्योपासन, शौच, स्थैर्य, आत्मनिग्रह, इन्द्रियों के विषय से वैराग्य, अहङ्कार का अभाव, जन्म मृत्यु जरा व्याधि आदि दुःखों के दोषों को जानना, इन्द्रियविषयों में असक्तिता, पुत्र, स्त्री, गृह, इन में मग्न नहीं हो जाना; आपक्ति में तथा इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में समचित्तता, ईश्वरमें अनन्यभक्ति, एकान्त देश में वास, जनसमूह में विरक्ति, अध्यात्मज्ञान में स्थिरता, तत्त्वज्ञान के अर्थ को समझना; ये सब ज्ञान के लक्षण हैं। इनसे जो अन्य लक्षण हैं, वे अज्ञान के हैं।
 ज्ञान तीन प्रकार का है; अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस ।

म. १३ खे. ८, ९

१०, ११, १२

- अ. १८ श्लो २० जिस ज्ञान से सब भूतों में वही अध्यय ब्रह्म दिखाई दे, अर्थात् पृथक् २ वस्तुओं में एक अखण्डित ब्रह्म, वह सात्त्विक है। जिस ज्ञान से सब भूतों में जो नाना भाव हैं, पृथक् २ दिखाई दें, वह राजस है।
- ” ” २२ जिस ज्ञान से कोई कार्य हेतु के बिना ही ऐसा समझा जाय कि जो कुछ है सब वही है और तत्त्वबोध भी नहीं हो और जो अल्प हो, वह तामस है।
बुद्धि, ज्ञान का द्वार है और वह तीन प्रकार की है :-
- ” ” ३० जो बुद्धि कार्य अकार्य, भय अभय, प्रकृति निवृत्ति, बन्ध मोक्ष, इन सब को जानती है, वह सात्त्विकी है।
- ” ” ३१ जो बुद्धि धर्म अर्धर्म, कार्य अकार्य को ठीक नहीं समझती है, वह राजसी है।
- ” ” ३२ जो बुद्धि तमोगुण में लित हुई अर्धर्म को धर्म समझे और सब वस्तुओं को उल्टी समझे, वह तामसी है।
- अ. ४ श्लो. १८ बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखे, वह सब कर्म करता हुआ भी योगी है। उसके सब कार्य कामनासंकल्प से रहित होते हैं। उस के सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं। वही पंडित कहलाता है। ऐसा मनुष्य जिस का-सङ्ग विषयों से छूट गया है और जिसकी बुद्धि शाना-वस्था में स्थित है, उस के सब कर्म (यज्ञादि) लोप हो जाते हैं, अर्थात् उसका बन्धन नहीं होता है। ज्ञान यज्ञ सब प्रकार के यज्ञों से बड़ा है; क्योंकि उसमें सब कर्मों का लोप हो जाता है। ज्ञान, गुरु की सेवा, खोज करना और लोकसेवा से आता है। उसे प्राप्त करने

पीढ़े मोह नहीं होता है। इस के द्वारा सब भूतगण, आत्मा में ही दिखाई देते हैं।

जैसे अग्नि से जल कर लकड़ी भस्म हो जाती है, वैसे ही ज्ञान से सब कर्मों का नाश हो जाता है। जो मनुष्य श्रद्धावान् है, और जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञानप्राप्ति से परम शान्ति को पहुंच जाता है। परन्तु जो श्रद्धा रहित है और संशयात्मा है, वह नाश को प्राप्त होता है। उसे न इस लोक में और न पर लोक में सुख प्राप्त होता है। जिसने योग साधन से कर्मों का त्याग कर दिया है, जिसने ज्ञान से सब संशयों को क्षिप्त मिश्र कर डाला है और जिसने अपने को ब्रह्म में कर लिया है, उसे कोई कर्म बन्धन नहीं होता है।

अ. ४ श्लो. ३७,

” ” ३६

” ” ४०

” ” ४१

यह संसार एक वट वृक्ष है, जिसकी जड़ें ऊपर हैं, अर्थात् ब्रह्म की योग माया में, और शाखें नीचे हैं, अर्थात् जगत् में हैं। यह अनन्त है। इस वृक्ष की पत्तियां शाखायें ऊपर नीचे फैली हुई हैं। यह गुणों के जल से सींचा जाता है। इस वृक्ष की कोपलें इन्द्रियविषय हैं और इसकी जड़ें मनुष्यों के कर्म बन्धन हैं। इस वृक्ष का न आदि है, न अन्त है और न उसकी जड़ों का स्थान मालूम हो सकता है। इसका नाश विषयसङ्कत्यागरूपी अस्त्र से हो सकता है। बहुत मनुष्य राग, भय, क्रोधादि को त्याग कर, ईश्वर में मग्न हो, उसी का आश्रय ले और ज्ञानतप से पवित्र हो ईश्वरभाव की प्राप्ति करते हैं। बड़े से बड़े पापी मनुष्य भी ज्ञान नौका के द्वारा पापों से तर जाते हैं।

अ. १५ श्लो. १, २

” ” ३

अ. ४ श्लो. १०

” ” ३६

- अ. १८ श्लो ५१ बुद्धि द्वारा शुद्ध हो, धृति द्वारा अपने को जीत, शब्दादि
 ” ” ५२ इन्द्रियों के विषयों को छोड़, रागद्वेषादि त्याग,
 ” ” ५३ एकान्त वास कर, अल्पाहार कर, वाणी काय मन को
 जीत, ध्यान योग में लग, वैराग्य का आश्रय ले, अहङ्कार,
 बल, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ को छोड़, निर्लोभी
 और शान्त हो, ब्रह्मगति प्राप्त करने योग्य मनुष्य होते
 हैं। इस अवस्था पर पहुँच कर वे प्रसन्नात्मा हो जाते हैं।
 ” ” ५४ उन्हें न कोई शोक रहत है और न कोई काङ्क्षा रहती है।
 वे सब प्राणियों को एकसा ही देखते हैं और उन्हें
 ” ” ५५ ईश्वर की परम भक्ति हो जाती है, और इस भक्ति से
 वे ईश्वर का असली रूप जान जाते हैं कि वह कौन
 और क्या है। यह तत्त्व जान कर वे ईश्वर में
 प्रवेश करते हैं।

टिप्पणी

गीता का ज्ञानयोग वेदों के उपनिषदों के आधार पर ही है। ज्ञानप्राप्ति की परम सीमा वह है जिसमें सब चराचर भूतों में एकही अखण्ड अद्वैत ब्रह्म दिखाई देने लगे, और प्रत्यक्ष में दिखाई देनेवाली पृथक्ता एक मूलाधार ब्रह्मतत्त्व में ही लोप हो जाय। यह अवस्था बड़ी कठिन है और केवल पुस्तक पढ़ने से नहीं होती है, बल्कि अभ्यास से ही होती है। आधुनिक विद्वान्, ज्ञानप्राप्ति उसी को समझते हैं जो तर्क द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान करावे। जो विषय बुद्धि के परे है, वह तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता है। उसके तो साधन ही दूसरे हैं। अनुभव की आवश्यकता है। इसीलिए गीता में ज्ञानमार्ग कहते समय

केवल पुस्तक द्वारा ज्ञानविषय समझ लेने को ही नहीं कहा है, बल्कि पहले ही ज्ञानी के लक्षण बतादिये हैं। यह पूर्ण आचारशुद्धता है। यूनान देश के तत्त्ववेत्ता सोक्रेटीज़ भी उसी को ज्ञानी कहते थे जो किसी विषय को बुद्धि से समझही नहीं गया हो, बल्कि उसके सत्य को वर्ताव में भी ले आयाहो। आजकलतो ज्ञानीकेवल वही हैं जो किसी बात को बुद्धि द्वारा समझले और उस पर तर्क कर सके, चाहे उस बात को वर्ताव में लाया हो या नहीं।

संन्यासयोग ।

कामनावाले कर्मों को छोड़ना संन्यास है। सब कर्मों के फल को छोड़ना त्याग है। संन्यास और योग में अन्तर नहीं है। योग के विना संन्यास प्राप्त करना कठिन है।	अ. १८ श्लो. २ अ. ६ श्लो. २
शास्त्रविहित कर्मों को छोड़ना ठीक नहीं है। सब कर्मों को छोड़ना असम्भव है। जो कर्मों का फल त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी है।	अ. १८ श्लो. ७ " " ११
शरीर के दुःख भयसे कर्म त्यागकरना, राजस त्याग है। ऐसे त्यागी को त्याग का फल प्राप्त नहीं होता है। मोह से कर्म त्याग करना तामस त्याग है।	" " ८ " " ७
जो शास्त्रविहित कर्म को नियतकार्य समझ कर करता है और उसके फल और सङ्ग को त्याग करता है, वही सात्त्विक त्यागी है। ऐसा ही त्यागी सत्त्वगुण संयुक्त, बुद्धिमान् और संशय रहित है। वह न तो बुरे	" " ९ " " १०

काम से द्वेष करता है और न अच्छे काम से प्रीति करता है ।

अ. ६ श्लो. १

जो कर्मों को अपना नियत कार्य समझ कर और उन की फलकामना छोड़कर कर्म करता है, वही संन्यासी है, न कि वह जो निरग्नि और अक्रिय है ।

अ. ५ श्लो. ३

संन्या और नित्य संन्यासी वही है जो न किसी से द्वेष करे और न कोई कांक्षा करे । वह निर्द्वन्द्व हो सब बन्धनों से छूट जाता है । ऐसे संन्यासी से

अ. ९ श्लो. २८

अच्छे वुरे सबकर्मों के फल छूट जाते हैं, और देह त्याग करने पर वह ईश्वर में मिल जाता है । जो सर्वज्ञ असक्त बुद्धि है, जितात्मा है, इच्छा रहित है, वह संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है । इसे

अ. १८ श्लो. ४९

” ” ५०

प्राप्त करने पर उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जो ज्ञान की परम सीमा है ।

टिप्पणी ।

संन्यास का अर्थ प्रायः यही समझा जाता है कि स्त्री पुत्रादि संसार व्यवहार और विहित कर्मों को छोड़ कर और गेरुआ कपड़े रंगा कर मनुष्य एकान्त वास करे । आज कल संन्यास से यही समझा जाता है । श्रीकृष्ण के अनुसार यह संन्यास नहीं है । कर्मत्याग करना संन्यास नहीं, किन्तु कर्म की फलइच्छा छोड़ कर कर्म करना ही संन्यास है । गीता में त्यागका अर्थ फल कामना छोड़ना ही माना है । कर्म को सर्वथा त्याग करना असम्भव है । कर्म के विना देहधारण भी नहीं हो सकता है । इसलिये जो इन्द्रियनिग्रह कर, साम्य बुद्धि हो और फलकामना त्याग, कर्म करता है वही

संन्यासी है, चाहे वह गृहस्थी हो वा वानप्रस्थ । इस फलकामर्मा को त्याग कर संन्यास करने वाले उद्धारणतः राजा जनक और श्रीकृष्ण हैं ।

संन्यास का यह अर्थ बताना गीता का अतुल गौरव है । इस विषय में उपनिषद्, वेदान्त अथवा दूसरे शास्त्रों के सिद्धान्तों से भी गीता बढ़ गई है । इस देश में संन्यासी होने की प्रथा बहुत बढ़ गई है, और उस के कारण समाजसम्बन्धिनी अनेक कठिनाइयाँ और हानियाँ उपस्थित हो गई हैं । श्रीकृष्ण के इस सिद्धान्त को अमल में लाने से यह प्रथा भी समाजोपयोगी हो सकती है । संसारसंग्रह के लिये आवश्यकता है कि शुद्धवृत्तियों के मनुष्य गृहस्थ बने रहें और अपने उदार भावों को संसार चलाने के काम में लावें । क्या संसार अधिम मनुष्यों के चलाने के लिये ही है ? यदि ज्ञानी और शुद्धाचरण के मनुष्य इसे छोड़ कर वन को चले जावें और केवल अज्ञानी और दुराचारी ही संसार में रह जावें, तो संसार प्रतिदिन अधोगति को चला जावेगा । भिष्म पिता, व्यास, राजाजनक, श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र सरीखे ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता महात्मा सब जानकर भी संसारपरोपकारार्थ संसार में ही रहे । यदि श्रीशंकराचार्य संन्यास का अर्थकेवल संसारत्याग ही समझते, तो इसदेश के सनातनधर्म का पुनरुत्थान कौन करता । व्यासजी क्यों १८ पुराण बनाते और अपनी माता सत्यवती के कहने से राजवंश चलाने के लिये क्यों सन्तान उत्पन्न करते । बुद्ध महाराज इस संसार के उपकारके लिये फिर क्यों लौट आते, उन्हें तो पूर्ण

ज्ञानावस्था प्राप्त होई गई थी। इन सब उद्धारणों से सिद्ध होता है कि संन्यास मार्ग फलकामना छोड़ना ही है, न कि संसार और कर्म छोड़ना। और इसी बात को लक्ष्य कर आधुनिक संन्यास प्रथामें संशोधन करना उचित है।

भक्तियोग ।

भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य अपने को ईश्वर में सर्वथा समर्पित करदे और जो कुछ भी काम करे वह ईश्वर ही के हेतु करे।

नीचे लिखे श्रीकृष्णजी के वाक्यों का अनुसरण भक्तों को करना चाहिये ।

अ. १८ श्लो. ६५

अपने मन को मुझ में ही लगाओ-मेरे ही भक्त हो, मेरे लिये ही यज्ञादि करो, मेरी ही नमस्कार करो, यदि पेसा करोगे तो तुम निश्चय ही मेरे पास पहुँचोगे । इस बात की मैं प्रतज्ञा करता हूँ । तुम मेरे प्यारे हो । सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरे ही शरणागत हो, मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूंगा, शोच मत करो ।

अ. १८ श्लो. ६६

” ” ६२

सब भावों से मेरी ही शरण हो, उस की कृपा से तुम्हें परम और अदल शान्ति प्राप्त होगी ।

” ” ५०

सब कर्मों को मेरे ऊपर ही चित्त से छोड़ दो, मुझमें ही तत्पर हो, बुद्धियोग के करते हुये मुझी में ही निरन्तर चित्त लगाये रहो ।

” ” ५८

अ. ९ श्लो. २६

यदि मुझमें चित्त लगाये रहोगे, तो सब दुःखोंसे पार हो जाओगे, यदि अहङ्कार के कारण इस पर ध्यान नहीं दोगे तो नाश ही जायगा । जो कोई मुझे पत्र पुष्प

फल जल भक्ति से देता मैं उसे ग्रहण कर लेता हूँ ।

जो कुछ तुम करो, जो कुछ तुम खाओ, जो कुछ तुम
दो और भेंट करो, जो कुछ तप करो, उस सब
को मेरे ही अर्पण करो ।

अ. ६ श्लो. २७

अपने मनको मुझमें ही लगाओ । अपनी बुद्धि को
मुझ में ही प्रवेश करो । यदि ऐसा करोगे तो निसन्देह
तुम मुझ में ही सर्वदा निवास करोगे ।

अ. १२ श्लो. ८

यदि मुझ में स्थिर-चित्त नहीं हो सकते हो, तो योग
का अभ्यास करो । यदि अभ्यास भी नहीं कर सकते
हो, तो जो कुछ कर्म करो, वह मेरे लिये ही करो ।
मेरे अर्थ कर्म करने से ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी ।
यदि यह भी नहीं कर सकते हो, तो अपने को वशा
में कर सब कामों का फल त्याग दो ।

” ” ९

” ” १०

” ” ११

जो अपने मन को मुझमें लगा कर मुझही में नियुक्त हो
कर अद्वैत श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं
सब योगियों में उत्तम समझता हूँ ।

” ” १२

भक्तों के ये लक्षण हैं ।

मेरे भक्त चित्तमय और प्राणगत होकर मेरी ही वार्ता
नित्य प्रति आपस में करते हैं । इसी से संतोषित
और प्रसन्न रहते हैं ।

अ. १० श्लो. ९

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोच करता
है, न कांक्षा करता है, जो शुभ अशुभ दोनों को त्याग
कर देता है और मेरी भक्ति से ही पूर्ण हृदय रहता है,
वही मुझे प्रिय है ।

अ. १२ श्लो. १७

शत्रु मित्र दोनों के प्रति भक्तलोग समभाव रहते
हैं । मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दुःख, इन

” ” १८

सब में एकसे ही रहते हैं और इन्द्रियविषयसङ्ग को छोड़ देते हैं ।

अ. १२ श्लो. १६

जो किसी चीज़ की इच्छा नहीं करता, शुचि, शुद्धा-
चरण, दत्त, उदासीन, दुःखरहित और अपने सब
कामों के फलों का त्यगी है, वही मेरा भक्त है, वही
मुझे प्रिय है ।

” ” १३

जो किसी जीव से द्वेष नहीं करता है, मित्रभाव
रखता है, दयावान् है, अहंकाररहित है, अंपनापन
भी जिसमें नहीं है, सुख दुःख में एकसा है, और

” ” १४

ज्ञान करता है; वही मेरा भक्त है । जो संतुष्ट, योग
संयुक्त, जितेन्द्रिय, दृढनिश्चय है, जिसने मन बुद्धि
को मेरे अर्पण कर दी है; वही मेरा भक्त है, वही
मुझे प्रिय है । जिस से संसारी लोगों को भय नहीं है,
और न उसे संसारी लोगों से भय है, जो हर्ष आमर्ष
भयादि के उद्वेग से रहित है; वही मुझे प्रिय है ।

अ. १२ श्लो. १५

” ” १९

जो निन्दा स्तुति में एकसा है, मौनी है, सब तरह
सन्तुष्ट है; जिस के रहने का कोई स्थान नहीं है, स्थिर
बुद्धि है, और भक्तिमान है; वही मेरा प्यारा है ।

अ. ९ श्लो. २२

यह फल ऐसे भक्तजनों को मिलता है, जो मेरा
अनन्य चिन्तन करते हुये उपासना करते हैं; उन्हें मैं
सब विघ्नों से वचाता हूँ । जो मुझे भक्ति से भजते हैं,
वे मेरे में हैं और मैं उन में हूँ । ऐसे भक्त धर्मात्मा हो
जाते हैं और अटल शान्ति प्राप्त करते हैं । जो मेरी
शरण लेते हैं, उनका क्षय कभी नहीं होता है, वे कैसे
ही पापी क्यों न हों, और चाहे स्त्री वैश्य शूद्र ही क्यों
न हों, वे सभी परमगति प्राप्त करते हैं ।

” ” २९

” ” ३१

” ” ३२

फिर शुद्ध ब्राह्मण और राजर्षि भक्तों का तो कहना ही क्या है। जो प्रीति पूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरे पास पहुँचते हैं।

अ. ६ श्लो. ३३

अ. १० श्लो. १०

जो मेरा सेवन निरन्तर भक्तियोग से करते हैं, वे गुण पुञ्जों से पार हो कर ब्रह्म अवस्था को प्राप्त करते हैं। यह भलीभांति भक्तिद्वारा ज्ञात हो सकता है कि मैं वास्तव में क्या हूँ। भक्तजन मेरे वास्तविक रूप को जान कर मुझमें ही प्रवेश करते हैं।

अ. १४ श्लो. २६

अ. १८ श्लो. ५५

जो मेरी शरण लेता है, वह सब काम करता हुआ भी मेरी कृपा से अटल और अव्यय पद को प्राप्त करता है।

” ” ५६

टिप्पणी ।

यदि नारायणीयोपख्यान महाभारत को छोड़ दें, तो कह अवश्य कहना होगा कि गीता ही भक्तिमार्ग की सब से पहली पुस्तक है। भक्ति पर जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं वे सब पीढ़े के हैं। गीता की भक्ति है सब कर्मों को करते हुये उन्हें ईश्वर के अर्पण कर देना और उनमें अपना कुछ स्वार्थ नहीं रखना। दूसरे शब्दों में निष्काम कर्म करना है (जो कर्मयोग का मुख्यांश है) और उस के साथ उन सब कर्मों को ईश्वर अर्पण कर देना है।

भक्तिमार्ग का उद्देश ईसाईमत में अधिक है और महात्मा ईसा ने वायविल में इस को सब में ऊँचा स्थान दिया है। जिस समय पाश्चात्य पंडित संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ने लगे और हिन्दू प्राचीनग्रन्थों में भक्ति विषय को अधिक न पाया, तो कहने लगे कि

गीता में भक्ति का उपदेश वायविल के भक्ति मार्ग को ही देख कर लिखा है। इस विषय में कई विद्वानों ने लेख भी लिख डाले और वायविल और गीता के वाक्यों का मुकाबिला भी कर दिखा दिया कि गीता के बहुत से वाक्य वायविल के वाक्यों के ही समान हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि गीता के अनेक भक्ति सम्बन्धी श्लोक वायविल के वाक्यों से मिलते हैं; परन्तु यह निर्णय करना है कि यह वाक्यसदृशता दोनों ग्रन्थों में स्वतंत्र ही उत्पन्न हो गई, अथवा एक ग्रन्थकार ने दूसरे ग्रन्थ का भाव ले लिया है।

गीता कब बनी; इस लेखमें हम बहुत से पाश्चात्य और पतंदेशीय पंडितों की सम्मतिअनुसार लिख चुके हैं कि गीता का होना महात्मा ईसा के जन्मसे ५०० वर्ष पहले पाया जाता है। इस से भलीभांति सिद्ध हो गया है कि गीता में भक्तिभाव वायविल से नहीं लिये गये हैं; क्योंकि वायविल बहुत पीछे की बनी हुई है। कुछ पतंदेशीय विद्वानों ने इस पर यह भी लिखा है कि वायविल में भक्तिभाव गीता अथवा बौद्धधर्म से ही लिये गये हैं। इस विषय के बहुत से प्रमाण भी दिये हैं। प्रमाणों के देखते जो बात पाश्चात्य पंडितों ने वाइविल की उत्कृष्टता बताने में सिद्ध करी थी, वह उन्हीं के तर्कों से गीता की सिद्ध होजाती है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि एकही विषय के विचार दो देशों में एक दूसरे की सहायता लिये बिना भी हो सकते हैं, और जब तक इस बात के अचूक प्रमाण नहीं हों कि एक ग्रन्थकार ने दूसरे ग्रन्थकार के सिद्धान्तों की चोरी की है, तब तक वृथा दोपारोपण क-

रना ठीक नहीं है। हम भी इस बात को मानते हैं; परन्तु यह कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि जो भक्तिभाव गीता में हैं वे वाइविल् से कादापि नहीं लिये गये; और न ऐसा किसी तर्क से प्रमाणित ही हो सकता है। ये इस देश के प्राचीन विचार हैं और इनका आरम्भ भागवतधर्म से हुआ है, जो गीता से पहले का है।

आचार ।

मनुष्य का अधिकार यह ही कि वह अपना नियत	अ. २ श्लो ४७
कर्म करे और उस कर्म के फल की कामना नहीं	
रखे, और न इस अभिप्राय से कर्म करे। सिद्धि	” ” ४८
और असिद्धि में समबुद्धि होकर और इन्द्रिय विषयों	” ” ६२
का संग छोड़ कर कर्म करना चाहिये; क्योंकि इन्द्रिय	
विषयों पर ध्यान देने से उन में प्रवृत्ति होती है और	
इस प्रवृत्ति से काम की उत्पत्ति होती है, काम से क्रोध	
उपपन्न होता है। क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति	” ” ६३
विभ्रम होता है, स्मृति विभ्रम से बुद्धि कानाश होता	
और बुद्धि के नाश से सर्व नाश हो जाता है। जब	” ” ६७
विचरती हुई इन्द्रियों में मन लग जाता है, तो जैसे	
समुद्र पर चलते हुये जहाज़ को पवनवेग इधर उधर	
वहा लेजाता है, वैसे ही इन्द्रियों के विचरणवेग से	
बुद्धि डामा डोल हो जाती है। इसलिये इन्द्रियों को	
विषयों में विचरण करने से रोकना चाहिये। इसी से	” ” ६८
बुद्धि स्थिर होगी। कोई २ यह कहते हैं कि कर्मों का त्याग	
करना चाहिये। यह मत ठीक नहीं है। कर्म, अकर्म से	अ. ३ श्लो. ८
उत्कृष्ट है। यदि कर्म करना छोड़ दोगे, तो शरीर का	

- अ. ३ श्लो. १९ पोषण भी नहीं हो सकेगा। सात्त्विक कर्म करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यदि कर्म करने की
- ” ” २१ आवश्यकता भी नहीं रहे, तब भी कर्म करना चाहिये; क्योंकि बड़ों का अनुकरण सब दूसरे आदमी करते
- ” ” २५ हैं। बुद्धिमान मनुष्य संसार का हित चाहते हुये
- ” ” ३० निष्काम हो कर कर्म करते हैं। जो कुछ कर्म करो उसे ईश्वर के हेतु करो और उसी का ध्यान लगाकर
- ” ” ३५ करो और आशा और अहङ्कार को त्याग दो। मनुष्य को चाहिये कि अपने धर्म को ही अच्छा समझे; अपने धर्म साधन में मरना भी अच्छा है; परन्तु दूसरे का धर्म भयप्रद है। कामक्रोध रूपी शत्रुओं का दमन करना
- अ. ४ श्लो. १९ ही पाप रोकना है। वे ही बुद्धिमान अथवा पंडित हैं, जिन के कर्म फलेच्छा रहित हैं और ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गये हैं।
- ” ” २० ऐसे लोग फलवांशना छोड़, संतुष्ट हो, ईश्वर के शरण गत हो, कर्म करते हुये भी कर्म बंधनों से दूर
- ” ” २१ रहते हैं। उन्हें किसी वस्तु की कांक्षा नहीं रहती है, उनका मन उनके वश में होता है, वे लोभ का त्याग कर देते हैं और केवल शरीर मात्र से ही कर्म करते हैं;
- ” ” २२ इसलिए इन्हें पाप नहीं लगता है। उन्हें जो कुछ मिल जाता है उसी से संतोष कर लेते हैं, निर्द्वन्द्व रहते हैं और सिद्धि अस्तिद्धि में चलायमान नहीं होते हैं।
- ” ” ३४ यह सब अभ्यासज्ञान से, खोज करने से और लोक सेवा से प्राप्त करना चाहिये। ज्ञानवान् मनुष्यों से शिक्षा लेनी चाहिये।
- ” ” ४० संशययुक्त मनुष्य नाश को प्राप्त होते हैं और उन्हें
- ” ” ४२ सुख कभी नहीं मिलता है। इसलिये अज्ञान से उत्पन्न

हुये संशयों को ज्ञान की तीव्र तलवार से काट योगमें स्थितबुद्धि होना चाहिये ।

ज्ञानावस्था को पहुंचे हुये मनुष्य किसी से कोई भेद नहीं रखते हैं । ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चारुडाल को एकही दृष्टि से देखते हैं ।

अ. १ श्लो. १८

जो अपने में ही प्रसन्न है, जो अपने भीतर ही रमण करता है, जिसके भीतरही ज्योति का प्रकाश है, वह निर्वाण की परम शान्ति को प्राप्त करता है । जो अपने को जानते हैं, जो राग द्वेष से दूर हैं और जितेन्द्रिय हैं और जिन्हें अपने मन पर अधिकार है, उन के समीप निर्वाण शान्ति सदैव ही रहती है ।

” ” २४

” ” २६

जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, और जो ज्ञान विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित है, उसे मट्टी का डेला, पत्थर और सुवर्ण एकसे ही हैं । वही मनुष्य सब में श्रेष्ठ है, जो शत्रु मित्रादि में एक भाव रखता है । समदृष्टि वाले मनुष्य को सब जीवों में आत्मा और आत्मा में सब जीव दिखाई देते हैं; उसे सर्वज्ञ एकसा ही दिखाई देता है । जो ईश्वर को सर्वत्र देखता और सब चीजों को ईश्वर में ही देखता है, उसे ईश्वर कभी नहीं छोड़ता है, और न वह ईश्वर को छोड़ता है ।

अ. ६ श्लो. ८

” ” ९

” ” २९

” ” ३०

ईश्वर इस सब संसार का माता, पिता और नियन्ता है । वही इसका भर्ता, प्रभु, साक्षी, सुहृद्, निवासस्थान शरण, प्रभव, प्रलय, अन्यय वीजादि है ।

अ. ९ श्लो. १७

” ” १८

यदि कोई भक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल जलादि भी उस की भेट करता है, तो वह उसे ग्रहण करता है ।

” ” २६

इसलिये तुम जो कुछभी करो, जो कुछभी खाओ, जो ” ”

कुछ भी दो, जो कुछभी तप करो, सब उसी के अर्पण करो ।

अ. ९ श्लो. २९

वह सब में एकसा है; उस का कोई मित्र शत्रु नहीं है, जो भक्ति पूर्वक उसे पूजते हैं, वे उसी के होते हैं ।

” ” ३०

यदि पापी से पापी भी एकचित्त होकर उस की पूजा करे, तो वह भी धर्मज्ञ हो जाता है ।

जो ईश्वर के प्रिय भक्त होना चाहें उन्हें ऐसा करना चाहिये:-

अ. १२ श्लो. १३

किसी जीव का अहित नहीं चाहना, सबसे मित्रता और दयाभाव रखना, सङ्ग और अहङ्कार छोड़ना, सुख दुःख में एकसे रहना ।

” ” १४

उन्हें चाहिये कि क्षमावान्, सदा सन्तोषी, योगस्थित, जितेन्द्रिय, दृढचित्त, ईश्वर में स्थितबुद्धि हों और वे

” ” १५

पेसी वृत्तियां करलें कि न उनसे किसी दूसरे को भय हो, न उन्हें किसी का भय रहे, और न उन्हें कोई सुख, भय, क्रोध सम्बन्धिनी चिन्ताएं हों ।

उनमें ये लक्षण भी होने चाहिये:-

” ” १६

कांक्षा नहीं, रखना, शुद्ध होना, कुशल होना, क्षोभ रहित होना, राग द्वेष से परे होना, सब कर्मों की

” ” १७

वासनाओं को छोड़ना, न प्रीति करना, न शत्रुता रखना, न दुःखी होना, न कुछ इच्छा करना, पाप

” ” १८

पुण्य दोनों का त्याग करना, केवल ईश्वरकी ही भक्ति करना, शत्रु मित्र में, स्तुति निन्दा में, शीत ताप में,

” ” १९

सुख दुःख में एकसा होना और इन्द्रियविषय सङ्ग छोड़ देना, प्रशंसा और निन्दा में चुप रहना, जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष करना, दृढचित्त होना,

रहने का कोई स्थान नहीं रखना और ईश्वरभक्ति परायण होना ।

नीचे लिखे ज्ञान के लक्षण हैं । इन से जो अन्य लक्षण हैं, वे अज्ञान के हैं :-

अमानता, अदम्भता, अहिंसा, चांति, आर्जव, उपासना, शौच, स्वर्य, आत्मनिग्रह, इन्द्रिय विषयों में वैराग्य, अहङ्कार का अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा व्याधि के दुःखोंका समझना, इन्द्रिय विषयों में असक्ति, पुत्र, स्त्री, गृहादि में असङ्ग, इष्ट और अनिष्ट चीजों में सर्वदा समचित्तता. ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त स्थान धास, जन समूह में अरुचि, अध्यात्म ज्ञान में दृढ़ अनुराग और तत्त्वज्ञानार्थ का समझना ।	अ. १३ श्लो ८ " " ९ " " १० " " ११ " " १२
---	---

देवी सम्पद यह है :-

अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, जीवों में दया, लोभ का अभाव, मृदता, विनय, चपलता का । अभाव, तेज, क्षमा, धृति, शौच, द्रोह का अभाव, अतिमानता का अभाव ।	अ. १६ श्लो. १ " " २ " " ३
--	---------------------------------

आसुरी सम्पद ये हैं :-

दम्भ, द्रप, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान । देवी सम्पद मोक्षका हेतु है और आसुरी सम्पद बंधन का । काम, क्रोध, लोभ; ये तीन नरक के द्वार हैं और आत्मा का नाश करने वाले हैं । इस लिये इन तीनों को त्याग करना चाहिये । जो इन तीनों को छोड़ देता है वही आत्मा की उन्नतिकरता है और परमगति को प्राप्त होता है ।	" " ४ " " ५ " " २१ " " २२
---	------------------------------------

- अ.१७ श्लो. १४ तप तीन प्रकार का है—शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक। देव, द्विज, गुरु और ब्राह्म (ज्ञानवान्) इन की पूजा करना, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य रखना और हिंसा नहीं करना; यह शरीर का तप है ।
- ” ” १५ पेसा वाक्य कहना जिस से किसी को दुःख नहीं हो और जो सत्य, प्रिय और हितकारी हो, और स्वाध्याय अर्थात् धर्म ग्रन्थों का अभ्यास करना; यह वाङ्मय तप है ।
- ” ” १६ मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन्य, आत्म निग्रह और भावसंशुद्धि; यह मानसिक तप है ।
- ” ” १७ जब यह तीन प्रकार का तप अति श्रद्धा से और फल की कांक्षा छोड़ कर किया जाता है, तो यह सात्त्विक तप कहलाता है ।
- अ.१८ श्लो. ५ यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिये—ये
- ” ” ६ ज्ञानमान पुरुषों के शुद्धिसाधन हैं । परन्तु इन कर्मों को संग और फलवासना छोड़कर करना चाहिये ।
- ” ” ७ नियत कर्मों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए । मोहवश हो कर त्याग करना, तामस त्याग है ।
- ” ” ८ शरीर दुःख समझ कर त्याग करना राजस त्याग है । ऐसे त्याग करनेवालों को त्याग का फल नहीं मिलता है ।
- ” ” ९ जो नियत कर्म को अपना धर्म समझ कर करता है, परन्तु उन के फल की कांक्षा नहीं रखता है और न इन्द्रिय विषयों में लिस होता है, वह सात्त्विक त्यागी है । सात्त्विक त्यागी को कोई संशय नहीं रहता है । वह न अरोचक कर्म से घृणा करता है और न रोचक में प्रीति करता है ।

- जो कर्म, इन्द्रियविषयों का सङ्ग, फल की कामना और रागद्वेषादि छोड़कर किया जाता है, वह सात्त्विक है । २३
- जो कर्म, फलवाँछा से अथवा अहङ्कार से अथवा बहुत प्रयास से किया जाता है, वह राजस है । २४
- जो कर्म, मोह से अथवा अपनी पुरुषार्थ सीमा से बाहर अथवा दूसरों की हानि और हिंसा का विचार छोड़कर किया जाता है, वह तामस है । २५
- जो मनुष्य इन्द्रिय-विषय-सङ्ग त्याग, अहङ्कार छोड़, धृतिश्रद्धा साथ सिद्धि असिद्धि को एक भाव रख कर्म करता है, वह सात्त्विक कर्ता है । २६
- जो मनुष्य, कर्म-फल की कामना कर रागी-लुब्ध हिंसात्मक हो, और अशुचि-हर्ष-शोकयुक्त हो कर्म करता है, वह राजस कर्ता है । २७
- अयुक्त-प्रकृत-स्तब्ध-शठ-नैष्ठिक-आलसी-विपादी दीर्घ सूत्री कर्म कर्ता, तामस कर्ता है । २८
- जो सुख पहले विष के समान हो और अंत में अमृत के समान हो, वह सात्त्विक सुख है । २९
- यह सुख आत्म-बुद्धि के आनन्द से उत्पन्न होता है । ३०
- जो सुख पहले विषेन्द्रिय-संभोग से अमृत तुल्य हो और परिणाम में विष समान हो वह राजस सुख है । ३१
- जो सुख आदि और अन्त दोनों में आत्मा को मोह में डालने वाला हो, वह तामस सुख है । तामस सुख की उत्पत्ति निद्रा-आलस्य और प्रमाद से है । ३२
- शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान आस्तिकता; ये सब ब्राह्मण के कर्म हैं । ४२

- अ. १८ श्लो. ४३ शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध से नहीं भागना, दान, ईश्वर भाव; ये सब क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं।
- अ. १८ श्लो. ४४ कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य; ये वैश्य के स्वभाविक कर्म हैं
- ” ” ४५ अपने २ कर्म में लगे रहने से मनुष्य को सिद्धि होती है। अपना कर्म करने से ही मनुष्य उस परमेश्वर की जिस से यह सब संसार उत्पन्न हुआ है और जो इस सब में विद्यमान है पूजा करता है और सिद्धि प्राप्त करता है।
- ” ” ४७ अपना धर्म रोचक नहीं हो, तब भी दूसरे के धर्म से अच्छा है। जो अपने स्वाभाविक कर्म को कर्ता है उसे पाप नहीं लगता है, अपना कर्म दोषयुक्त भी हो तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि जैसे अग्नि में धूँयाँ रहता है, वैसे दोष भी सभी कर्मों में रहते हैं।
- ” ” ४९ जिसकी बुद्धि सभी जगह असक्त रहती है, जिसने अपने को जीत लिया है, जिसमें कामना नहीं रही है, वह संन्यास द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।
- अ. १८ श्लो. ५१ शुद्ध-बुद्धि-युक्त हो, अपने को धृति से जीत, शब्दादि विषयों को त्याग, रागद्वेष को छोड़, एकान्त में वासकर
- अ. १८ श्लो. ५२ अल्पाहारी हो, मन, काय और वचन को वश में कर, वैराग्य का आश्रय ले, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, लोभ को छोड़, ममत्व को त्याग और
- अ. १८ श्लो. ५३ शान्त हो, मनुष्य ब्रह्मपदप्राप्ति योग्य हो सकता है।
- ” ” ५७ मनुष्य को चाहिये कि सब कामों को चित्त से ईश्वर पर छोड़ दे, उसी में तत्पर होवे और बुद्धियोग द्वारा उसी में चित्त लगावे।

- ईश्वर में चित्त लगाए रहने से मनुष्य सब कष्टों से दूर हो जाता है। यदि वह अहङ्कार के कारण इस बात पर ध्यान नहीं दे, तो उसका नाश हो जाता है।
- ईश्वर सब जीवों के हृदय में बैठकर जीवों को अपनी माया से ऐसेही धुमा रहा है, जैसे कुम्भकार घटादि वस्तुओं को अपने यन्त्र पर धुमाता है।
- सब भावों से उसी की शरण जाना चाहिये। उसी की कृपा से अटल शान्ति का स्थान प्राप्त होता है।
- ईश्वर में ही मन लगाओ, उसी के भक्तों, उसी को यज्ञ करो, उसी को नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम उसे निश्चय ही प्राप्त करोगे।
- सब धर्मों को छोड़ कर केवल उसी की शरण लो। ईश्वर कहता है कि मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा- शोच मत करो।

अ. १८ श्लो. ५८

अ. १८ श्लो. ६१

अ. १८ श्लो. ६२

अ. १८ श्लो. ६५

अ. १८ श्लो. ६६

टिप्पणी ।

इस विषय पर हम पहले लिख चुके हैं; इसलिये यहाँ कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहते हैं कि आचार में निष्काम कर्म करना ही अत्यावश्यक अंश है।

मोक्ष और परमपद कितन को प्राप्त होता है ।

जो योगी शान्त चित्त है, जिसमें रजोगुण नहीं रहा है, जो पाप रहित है और ब्रह्म भूत है उसी को उत्तम

अ. ६ श्लो. २७

- अ. ६ श्लो. २८ सुख प्राप्त होता है। जो योगी पापरहित है, वही ब्रह्म-
संस्पर्श का अत्यन्त सुख प्राप्त करता है, वही परम
निर्वाण की शान्ति प्राप्त करता है। जो मुझ में तत्पर
हो कर अपने सब कर्म मेरे में ही छोड़ देते हैं और
अनन्य योग से मेरी ही उपासना करते हैं, उन्हें में
मृत्युसंसारसागर से पार कर देता हूँ। जो योग
युक्त हैं वे शीघ्र ही ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं। जो योगी
कर्मफल को त्याग देता है, वह अद्वय शान्ति प्राप्त करता
है। जो उसी में बुद्धि लगाते हैं, जो उसी में अपने को
मग्न करते हैं, जो उसी की निष्ठा करते हैं और उसी
में तत्पर होते हैं, उन के सब पाप ज्ञानके द्वारा दूर हो
जाते हैं और वे उस गति को पहुँचते हैं जहाँ से फिर
उन्हें इस संसार में नहीं आना पड़ता है।
- अ. ५ श्लो. २१ जिसकी आत्मा बाहरवाली चीजों में नहीं लगी है
और जो ब्रह्म योग से आन्तरिक आत्मा के सुख का
अनुभव करता है, वह अक्षय्य सुख को प्राप्त करता है।
- अ. ५ श्लो. २४ जो योगी भीतर सुखी है, जो अपने भीतर ही रमण
करता है, जिसके भीतर ही ज्योति है, वह ब्रह्मावस्था
को प्राप्त कर ब्रह्म निर्वाण पाता है।
- अ. ५ श्लो. २६ जो योगी आत्मा को जानते हैं जिनका चित्त वश में है
और जो काम क्रोध रहित हैं, उन के पास ब्रह्म निर्वाण
हमेशा ही है।
- अ. ५ श्लो. २७, २८ जो बाहर के स्पर्शों को दूर कर, भ्रुवों के बीच नेत्र
लगा, नासिका के भीतर चलने वाली प्राण अपान
वायुओं को एक कर, मन बुद्धि इन्द्रियों को वश में
कर और इच्छा भय क्रोध को दूर कर, मोक्ष परायण
होते हैं, वे सदा ही मुक्त हैं। ज्ञानी-लोग बुद्धि युक्त हो,
- अ. २ श्लो. ५१

कर्म के फल को त्याग और जन्म बन्धन से मुक्त हो,
अनामयपद प्राप्त करते हैं ।

जो राग-द्वेष-रहित हो इन्द्रिय-विषयों में विचरते हैं और अ. २ श्लो ६४
अपने को जीत लेते हैं, वे परम पद को प्राप्त करते हैं ।

जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं, परन्तु समुद्र " " ७०
अचल ही रहता है, वैसे ही जिसमें सब कामनाएं
प्रवेश करती हुई भी उसे चलायमान नहीं करती हैं
वह ही शान्ति प्राप्त करता है, न कि वह जो कामनाओं
की इच्छा ही करता रहता है । जो कामनाएं छोड़ अ. २ श्लो ७१
निःस्पृह, निर्मम और निरहङ्कारी हो रहता है, उसे
अवश्य शान्ति प्राप्त होती है ।

जो इस ब्राह्मीस्थिति को अन्त काल में भी धारण अ. २ श्लो. ७२
करता है, वह निर्वण प्राप्त करता है । जो इन्द्रिय
विषयों में मग्न नहीं हो कर्म करता है, उसे परम पद
प्राप्त होता है ।

वहुत ऐसे मनुष्य हैं जो राग भय क्रोध से अलग हो अ. ४ श्लो १०
मुझ में ही मग्न हो गये हैं और मेरी ही शरण में
आगये हैं । ये सब ज्ञानतप से शुद्ध हो मेरे भाव में
ही मिलगये हैं ।

अज्ञावान और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है अ. ४ श्लो. ३९
और ज्ञान प्राप्ति से परम और अटल शान्ति प्राप्त
करता है ।

मेरे में ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त हो, मेरे लिये ही अ. ९ श्लो. ३४
यज्ञादि करो, मेरी ही आराधना करो, इस प्रकार
आत्मा लगाकर मेरे में ही तत्पर हो, तो तुम मुझे
प्राप्त करोगे । जो मुझ अजन्मा अनादि सर्व संसार का अ. १० श्लो ३

ईश्वर जानता है, वह सब मनुष्यों में अज्ञानरहित है और सब पापों से मुक्त हो जाता है ।

अ. ११ श्लो. ५५

जो सब कर्म मेरे लिये ही करता है, जो मेरे को ही श्रेष्ठ मानता है, जो सब इन्द्रियविषयों से असङ्ग है, जो मेरा भक्त है और सब जीवों में निर्वैर है, वह मेरे पास पहुँचता है ।

अ. १२ श्लो. ४

सब इन्द्रियों को जीत, सर्वत्र समबुद्धि हो, सब जीवों के हित में लग मनुष्य मुझे प्राप्त करते हैं । जो मुझमें

” ” ८

ही मन लगाते हैं, मुझ में ही बुद्धि का प्रवेश करते हैं, वे इस संसार को छोड़ मुझ में ही वास करते हैं ।

अ. १३ श्लो. ३१

जो सब भूतों के पृथक् भावों को एक में ही स्थित समझ कर, सब वस्तुओं का विकाश और विस्तार एकमें ही जानता है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

” ” ३५

जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद और भूतों की प्रकृति से मोक्ष होना जानते हैं, वे परमपद को प्राप्त होते हैं । जीव जवतीनों गुणों से जिनसे सब

अ. १४ श्लो. २०

शरीर उत्पन्न हुये हैं पार हो जाता है, तो जन्म मृत्यु जरा दुःख से मुक्त हो अमृतानन्द प्राप्त करता है ।

अ. १५ श्लो. ५

जो मनुष्य मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने सङ्ग दोष को जीत लिया है, जो आत्मा में निरन्तर ध्यान लगाये हुये हैं, जो कामनाओं से निवृत्त है, जो सुख दुःखादि द्विदों से रहित हैं, वे ही अव्यय पद प्राप्त करते हैं । काम क्रोध लोभ-नरक के तीन द्वार आत्मा

अ. १६ श्लो. २१ २२

का नाश करने वाले हैं; इन्हें त्याग देना चाहिये । जो त्याग देते हैं, आत्मा का भला करते हैं और परम गति को जाते हैं ।

बुद्धिगुक्त होने से शुद्ध हो, धृति से आत्मा को सम	अ. १८ श्लो. ५१
कर, शब्दादि इन्द्रियों के विषय को छोड़, राग द्वेषादि	
को छोड़, एकान्त में वास कर, थोड़ा भोजन कर,	” ” ५२
वाणी काय और मन जीत कर ध्यानयोग में निरन्तर	
तत्पर हो, वैराग्य का अवलम्बन कर, अहंकार बल	” ” ५३
दर्प काम क्रोध और लोभ को छोड़, ममता से परे हो	
और शान्त हो, ब्रह्म अवस्था प्राप्त करने योग्य मनुष्य	
होते हैं ।	
ऐसे योग्य हो जाने पर वे प्रसन्नात्मा हो जाते हैं ।	” ” ५४
उन्हें न शोक होता है और न उम में कोई काँक्षा रहती है ।	
वे सब जीवों में समभाव हो जाते हैं और मेरी परम	” ” ५५
भक्ति प्राप्त करते हैं । इस भक्ति से वे जानलेते हैं कि	
मैं वास्तव में क्या हूँ । जब यह जान जाते हैं, तो वे	
सुभी में प्रवेश करते हैं ।	
जो मेरी शरण आकर सब कर्मों को भी करते रहते	” ” ५६
हैं, वे मेरी कृपा से अदल और अव्यय पद प्राप्त	
करलेते हैं ।	

टिप्पणी ।

ज्ञानमार्ग-कर्ममार्ग-संन्यासमार्ग-भक्तिमार्ग-ध्यानयोग मार्ग आदि, जिन २ का गीता में वर्णन है, सबही मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं । श्रीकृष्ण भगवान् ने इसके लिये कोई एक मार्ग ही निर्दिष्ट नहीं किया है । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो अंत में अर्थात् मोक्षावस्था प्राप्त करने के समय में सबही मार्ग एकही जाते हैं । साम्यबुद्धि निष्कामकर्म, इस अवस्था की प्राप्ति के लिये अत्यावश्यक है । यह किसी मार्ग से भी क्यों नहीं प्राप्त हो; इस के बिना मोक्ष नहीं हो सकती है । श्रीकृष्ण भगवान् ने मोक्ष प्राप्ति के लिये सभी मार्ग खुले रखे हैं ।

विश्वरूपदर्शन ।

(११ वां अध्याय)

- १ अर्जुन ने श्री भगवान् कृष्णचन्द्र जी कहा- हे भगवन् !
मेरे ऊपर अनुग्रह करके आपने जो परम गुह्य
- २ अध्यात्मज्ञान कहा, उससे मेरा मोह दूर हो गया है। प्राणि-
यों की उत्पत्ति, संहार तथा आपके महात्म्य का हाल भी
- ३ मैं ने आप से सविस्तार सुना। हे भगवन् ! जिस प्रकार
आपने अपना वर्णन किया, मैं उस ऐश्वर्यरूप को
- ४ देखना चाहता हूँ। यदि आप मुझे उस रूप के दर्शन
करने योग्य समझें, तो अपने उस अविनाशीरूप को
दिखाइये।
- ५ श्री भगवान् ने कहा- हे अर्जुन ! मेरे असंख्य दिव्य-
रूपों को देख। उन में नाना प्रकार के वर्ण और विविध
- ६ आकृतियाँ हैं। आदित्य, वसु, रुद्र, अश्वनीकुमार, वायु
आदि देवताओं को देख। ऐसे अद्भुत रूपों को देख, जो
- ७ पहले कभी नहीं देखे गये हैं। मेरी देह के एक अवयव में
समस्त चराचर जगत को स्थित देख। और जो कुछ देखने
- ८ की इच्छा करता है, उसे भी देख। तू अपनी इन आंखों से
इस रूप को नहीं देख सकता है। मैं दिव्य चक्षु देता हूँ,
जिससे तू मेरे ऐश्वर्ययोग को देख सकेगा।
- ९ सर्जय ने धृतराष्ट्र से कहा- उस योगेश्वर श्रीकृष्ण ने
यह कहकर अर्जुन को अपना परमेश्वर्य रूप दिखाया। इस
- १० रूप में अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं, अनेक अद्भुतदृश्य हैं,
अनेक दिव्य भूषण हैं और अनेक उठेहुये अस्त्र हैं। उस
- ११ में दिव्य मालाएं और वस्त्र भूषित हैं, दिव्य सुगंधियों का
लेप है और सभी तरफ मुख हैं। यदि आकाश में सहस्र

सूर्य एक साथ प्रकाशित हो जावें, तब कहीं उन का प्रकाश इस विश्वरूप की प्रभा के समान होवे ।

अर्जुन ने देवताओं के देवता के शरीर में समस्त जगत को एक ही स्थान में अनेक प्रकार से विभक्त हुआ देखा । उस समय विस्मयपूर्ण और पुलकित रोमांच हो, अनेक चार सिर से नमस्कार कर और दोनों हाथ जोड़, अर्जुन ने भगवान् से कहा—

हे देव ! मैं आप के इस विश्वरूप देहमें सब देवताओं को, स्थावर-जङ्गमरूप भूतों के समूह को, कमलासन पर उपस्थित सब के नियन्ता ब्रह्मा को, सब ऋषियों को एवं सब दिव्य उरगों को देखता हूँ । हे विश्वेश्वर विश्वरूप ! मैं आप का ऐसा रूप देखता हूँ जो चारों दिशाओं में फैला हुआ है, जिस में अनेक हाथ, अनेक मुख, अनेक नेत्र और अनेक उदर हैं । मैं देखता हूँ कि आप किरीट पहरे हुये हैं, हाथमें चक्र और गदा लिये हुये हैं । आप सर्वत्र प्रकाशवान् तेज-पुञ्जरूप हैं । आप अनुपम हैं, और आपके रूप का तेज चारों ओर जलती हुई अग्नि अथवा सूर्य के प्रकाश के समान है, जिस के देखने से आंखों को चकार्चोन्मत्त होती है । आप अविनाशी हैं, जाननेयोग्य सब से बड़ा वस्तु आप ही हैं, इस विश्व के अन्तिम आश्रय आप ही हैं, आप अव्यय हैं, आप अनादि काल से धर्म के रक्षक हैं । मैं आप को सनातन पुरुष मानता हूँ । आप का आदि, अन्त और मध्य नहीं है, आप अनन्त बल वाले हैं, आपके अनन्त भुजाएं हैं, सूर्य चन्द्र आपके नेत्र हैं । मैं आपका मुख जलती हुई अग्नि के समान देखता हूँ, जो अपने तेजसे सब विश्व को तपा रहा है । आकाश और पृथिवी के बीच का भाग अथवा सब दिशाएं आपसे ही व्याप्त हैं; तीनोंलोक आपका अद्भुत

- और उग्ररूप देखकर कांप रहे हैं । आप में देवताओं के समूह प्रवेश कर रहे हैं; कितने ही डरकर हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धों के समूह स्वस्ति स्वस्ति कहकर प्रतिध्वन शब्द के साथ आपकी स्तुतियां गारहे हैं । रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विन, मरुत, ऊष्मया अथवा गन्धर्व, यक्ष असुर और सिद्धों के समूह सभी विस्मय पूर्ण हो आपको देख रहे हैं । आप का पेसा विशाल रूप देख कर, जिसमें बड़े २ मुख, बड़े २ नेत्र, बड़े २ वाहु, बड़ी २ जांघें, बड़ा उदर और बड़ी कराल डाढ़ें हैं, सब लोग व्यथित हो गये हैं और मैं भी डर गया हूँ । आपका पेसा रूप देखने से, जो पृथ्वी से आकाश तक फैला हुआ है, जिसमें अनेक प्रकार के चमकते हुये रङ्ग हैं और जिसमें चमकती हुई विशाल आंखें और खुले हुये मुख हैं, मेरी अन्तरात्मा व्यथित होगई है, न मुझ में शान्ति रही है और न धैर्य रहा है । प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित और भयङ्कर दांतों वाले आप के मुखों को देखने से मुझे दिशाओं का ज्ञान भी न रहा है, और न मुझ में धैर्य ही रहा है । हे देवों के देव ! हे जगन्निवास !! मेरे ऊपर कृपा करो । धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र (कौरव) अपने राजाओं के झुंडों के सहित तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अथवा मेरी तरफ के मुख्य २ योद्धा सभी आप के भयङ्कर दाढ़ों वाले मुखों में शीघ्रता से प्रवेश कर रहे हैं । कितने ही आप के दांतों के बीच में फंस गये हैं और उनके स्तिर चूर्ण २ होते दिखाई देते हैं । जैसे नदियों की बड़ी २ वेगगामी धाराएं समुद्र की तरफ दौड़ कर जाती हैं, वैसेही ये नरलोक के वीर आप के प्रज्वलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं । जैसे जलती हुई अग्नि में नष्ट होने के लिये पतङ्गे वेग

- से प्रवेश करते हैं, वैसे ही लोग अपने नाश के लिये आप के मुखों में वेग से प्रवेश कर रहे हैं। आप जलते हुये ३०
मुखों से सब ओर सब मनुष्यों को घास करते हुये जिन्हा से स्वाद ले रहे हैं। आप का प्रचण्ड तेज समस्त जगत को प्रकाशित करके जला रहा है। बताइये इस उग्र ३१
रूप को धारण करने वाले आप कौन हैं। आप को नमस्कार है। कृपा करो। मैं आपके आदि रूप को जानना चाहता हूँ। मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूँ।
- श्री भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने कहा—मैं जगत संहार ३२
करने वाला काल हूँ। संसार का संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। ये सब योधा, जो लड़ाई के लिये उपस्थित हैं, नष्ट होंगे। केवल तू ही बचेगा। हे अर्जुन ! इसलिये उठ ३३
और शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त कर और राज्य को निष्कण्टक भाग। इनको तो मैं ने ही मार डाला है। तू केवल ३४
निमित्त मात्र बन। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य-वीर योधाओं को तो मैं ने ही मार डाला है। व्यथा मतकर, युद्ध कर। तू अवश्य विपत्तियों को जीतेगा।
- सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि यह वचन सुनकर किरीटधारी ३५
अर्जुन ने, जो भय से कांप रहा था और गद्गद हो रहा था, हाथ जोड़ चार २ नमस्कार करके श्रीकृष्ण जी से कहा:—
- हे हृषीकेश ! आपकी कीर्ति से संसार प्रसन्न हो रहा है ३६
और अभिनन्दन कर रहा है। राजस लोग डरकर चारों दिशाओं को भाग रहे हैं। सिद्धों के सब समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं। हे महात्मन् वे क्यों नहीं ३७
नमस्कार करें, क्योंकि आपतो जगत् कर्ता ब्रह्मा से भी बड़े हैं। आप अविनाशी हैं। सत और असत दोनों से परे हैं। ३८
आपही आदि देव हैं, आपही सनातन पुरुष हैं, आपही इस

- विश्व के अन्तिम आश्रय हैं। आपही जानने वाले और आपही जानने योग्य वस्तु हैं। आपही परम धाम हैं।
- ३६ आपही अनन्त रूप हैं और समस्त जगत आप से ही है। वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, प्रजापति, प्रपितामह, सब आप ही हैं। आप को चार २ हज़ार चार नमस्कार है।
- ४० आप को आगे, पीछे अर्थात् सभी ओर नमस्कार है। आप अनन्त वीर्य और अपरमित शक्ति हैं, आप को सब प्राप्त है;
- ४१ अतः आप सभी कुछ हैं। आप को मित्र जानकर और आप की महिमा नहीं जानते हुये, यदि मैंने भूल अथवा स्नेह से आप को, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, कह कर कभी पुकारा हो अथवा हंसी, खेल, कूद, सोने, बैठने, भोजनादि के समय, अकेले व दूसरों के सामने कभी कुछ अपमान किया हो, तो उसके लिये आप मुझे क्षमा करें।
- ४३ आप चराचर संसार के पिता हैं। आप बड़े से बड़े पूजा के योग्य हैं। आप के समान भी कोई नहीं है, तो आप से बड़ा कोई कैसे होगा! आपका अनुपम प्रभाव तीनों लोकों में है। इसलिये मैं आप को साष्टाङ्ग दंडवत् करता हूँ। मुझ पर प्रशन्न हो। जैसे पिता पुत्र को, सखा सखा को, प्रेमी प्रेमपात्र को क्षमा करता है, वैसे ही आप मुझे क्षमा कीजिये। जिस रूप को कभी पहले नहीं देखा था उसे देख कर मैं हर्षित हूँ, परन्तु मन में डर भी है। आप कृपा कर मुझे अपना पहला रूप दिखाइये। हे सहस्रों वाहु और विश्वरूप वाले! मैं आप के उसी रूप को देखना चाहता हूँ, जिसमें आप किरीट धारण किये हैं, हाथ में गदा और चक्र लिये हुये हैं और जिसमें आप की चार भुजाएँ हैं!
- ४७ श्रीभगवान् बोले:—अर्जुन! मेरे आत्मयोग और अनुग्रह से तूने मेरा वह तेजोमय अनन्त आद्य परम और

विश्वरूप देखा है जिसे कभी किसी ने तेरे सिवा पहले नहीं ४८
देखा था । संसार में तेरे सिवा और कोई इस विश्वरूप को
न वेदपठन, न यज्ञ, न ध्यान, न दान, न कर्म, न उग्र तप से ४९
देख सकता है । इस भयङ्कर रूप को देख कर व्यथित मत
हो, घबरा मत, भय छोड़, प्रश्न मन हो और अब मेरे
पहले रूप को देख ।

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि अर्जुन से यह कह कर ५०
श्रीकृष्ण ने अपना निज सौम्यरूप फिर दिखलाया और
उस डरे हुये का घबड़ाहट दूर किया ।

अर्जुन ने कहा-हे जनार्दन ! आप के इस मानसी ५१
सौम्यरूप को देख मैं सचेत हुआ हूँ और अपनी पहली
दशा पर आया हूँ ।

श्री भगवान् बोले-मेरे जिस रूप को तूने देखा है, उस ५२
का दर्शन करना बड़ा कठिन है । इस रूप के दर्शन करने के
लिये देवता लोग भी सदैव कांक्षा करते रहते हैं । जिस ५३
प्रकार तैने दर्शन किये हैं, वह दर्शन, न वेदों से, न तप से,
न दान से, न यज्ञ से होसकते हैं । परन्तु यह दर्शन अनन्य ५४
भक्ति द्वारा होसकते हैं । ऐसी भक्ति द्वारा ही भक्त लोग
मुझे देख सकते हैं और मेरे में प्रवेश भी कर सकते हैं । ५५
जो अपने सब कर्म मेरे ही अर्पण कर देता है; जो मुझे ही
सब में बड़ा जानता है, जो मेरा ही भक्त है, जो सब इन्द्रिय
विषयो का संज्ञ छोड़ देता है, जो सब प्राणियों में निर्वर
रहता है; वही मुझे प्राप्त करता है ।

गीतोपदेश की परंपरा ।

- ॥ ४ श्लो. १ यह उपदेश मैं ने (श्रीकृष्ण ने) पहले पहले विवस्वन् को दिया था । विवस्वन् ने मनु को दिया और मनु ने इच्छाकु को दिया, फिर यह राजर्षियों को प्राप्त हुआ और समय परिवर्तन से संसार में नष्ट हो चला ।
- ॥ " २ इसी ज्ञानको आज मैं तुम्हें (अर्जुन को) देता हूँ क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा, दोनो है । यह परम उत्तम रहस्य है ।
- ॥ १८ श्लो. ७१ इसी योग को व्यास जी की कृपा से सक्षय ने प्राप्त किया; क्योंकि जब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस का उपदेश अर्जुन को किया, उस समय सक्षय ने व्यासजी के दिव्य दृष्टि देने से, इसे सुना ।

इस की महिमा ।

- अ. ३ श्लो. ३१ जो श्रद्धावान होकर इसके अनुसार चलते हैं, वे कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ।
- ॥ " ३२ जो इस में दोष निकालते हैं और इसके अनुसार नहीं चलते हैं, वे मूढ़ हैं और उन्हें नष्ट समझो ।
- अ. १८ श्लो. ६७ यह ज्ञान ऐसे मनुष्य को नहीं देना चाहिये, जो न तपस्वी और न भक्त हो, और ऐसे को जो सुनने में भी श्रद्धा नहीं रखता हो और उल्टे दोष निकालता हो । जो इस परम गुह्य तत्त्व को मेरी परम भक्ति से भक्तों में फैलावेगा, वह निस्सन्देह मेरे पास पहुंचेगा ।
- ॥ " ६९ मुझे ऐसे मनुष्य से अधिक और कोई प्रिय नहीं है और न इस से अधिक मेरी सेवा करना है ।

(१९७)

जो इस धर्म सम्वाद को पढ़ेगा वह निश्चयही
ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी आराधना कर सकेगा ।

अ. १८ श्लो ७०

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक और बिना दोष निकालने के
इसे सुनेगा, वह पापों से मुक्त होकर पुण्यकर्मियों
के शुभलोकों को प्राप्त करेगा ।

” ” ७१

टिप्पणी ।

जो परम्परा श्रीकृष्ण ने बताई है, उस से मान्यवर
तिलक ने यह सिद्ध किया है कि यह परम्परा भागवत
धर्म की ही परम्परा है, क्योंकि जिस निष्काम कर्म
का उपदेश गीता में किया गया है, वह प्रथम भागवत
धर्म में ही था । यदि गीता में निष्काम कर्म योग ही
मुख्य रक्खा जावे, तो इस धर्म की परम्परा भागवत
धर्म के सिवा और कहीं नहीं मिलती है । सम्भव है कि
यही हो ।

* इति श्री *

(१२२)



परिशिष्ट (१)

ईश्वर-गीता ।

बहुत से मनुष्य, जो संस्कृत-साहित्य से अच्छी तरह परिचित नहीं, समझते हैं कि केवल भगवद्गीता ही एक गीता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीताओं में भगवद्गीता सर्वोत्तम है। परन्तु केवल एक यही गीता नहीं है। कितनी ही और गीतार्थ भी हैं। अष्टादश पुराणों में से प्रत्येक पुराण में एक या एक से अधिक गीतार्थ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत, योगवासिष्ठ, अध्यात्म-रामायण आदि ग्रन्थों में भी गीतार्थ हैं। उदाहरणार्थ कुछ गीताओं के नाम नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) भगवद्गीता, (२) ईश्वरगीता, (३) देवीगीता, (४) शिव-गीता, (५) गणेशगीता, (६) रामगीता, (७) कपिलगीता, (८) अष्टा-वक्रगीता, (९) अवधूतगीता, (१०) ब्रह्मगीता, (११) सूर्यगीता, (१२) यमगीता, (१३) हंसगीता, (१४) पाण्डवगीता, (१५) व्याधगीता, (१६) अनुगीता, (१७) व्यासगीता ।

गीतार्थ आध्यात्मिक ज्ञान के भाण्डार हैं। उनमें उच्च से उच्च धार्मिक विचार, गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक तत्त्व, शुद्ध से शुद्ध भक्ति-भाव भरे हैं। उपाधियों को हटा कर आत्मा के शुद्ध निर्मल स्वरूप का आविष्कार करना, वासनाओं को पवित्र बनाना, इन्द्रियों को वश में करके बुद्धि को स्थिर करना, मायाजाल को काट कर सच्चिदानन्द परमात्मा के दर्शन कराना—यही सब गीताओं के उद्देश हैं। वेदान्त, सांख्य और योगदर्शनों के तत्त्व उनमें निहित हैं। उपनिषदों के पवित्र विचारों की दिव्य प्रभा से वे प्रभावित हैं। नित्य पाठ करने योग्य हैं। क्योंकि उनसे बढ़ कर अध्यात्म विषय की बहुत कम पुस्तकें हैं।

यदि इन सब गीताओं की समालोचना की जाय तो एक पुस्तक बन जाय। अतएव इस लेख में केवल ईश्वर-गीता का ही कुछ वर्णन किया जाता है।

ईश्वर-गीता कूर्मपुराण का एक अंश है। इसमें ११ अध्याय और ४६६ श्लोक अनुष्टुप् वृत्त के हैं। कहीं कहीं और वृत्त भी हैं। इसके प्रधान देवता भगवान् शङ्कर हैं।

ईश्वर-गीता का कथन पहले पहल भगवान् विष्णु ने, अपने कूर्मावतार में, किया था। अनन्तर इसे शिवजी ने बदरिकाश्रम में नरनारायण के सामने सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, अङ्गिरा, भृगु, कणाद, कपिल, गर्ग, वामदेव, शुक्र, और वसिष्ठ ऋषियों को सुनाया। इन ऋषियों से और और ऋषियों ने इसे सुना। इसी प्रकार परम्परा से यह व्यासजी को प्राप्त हुई। व्यासजी ने शौनकादि को सुनाई। इस समय जो ईश्वर-गीता प्राप्त है वह व्यास जी की ही कही हुई है।

इस गीता के उपदेश के आधार वेदान्त, सांख्य और योगशास्त्र हैं। इन तीनों को मथ कर उनका निचोड़ इसमें रख दिया गया है। तथापि इसमें वेदान्त-विचारों की अधिकता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता स्पष्टतापूर्वक बुद्धिमत्ता से दिखाई गई है।

दूसरे, तीसरे, छठे और सातवें अध्याय तथा चौथे और नवें अध्याय के कुछ अंशों में आत्मा, परमात्मा और उनकी एकता का विषय वेदान्तानुसार वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय में और तीसरे तथा सातवें अध्याय के कुछ अंशों में सांख्यसम्बन्धिनी प्रकृति, पुरुष और उनके द्वारा संसारोत्पत्ति का विवरण है। ग्यारहवें अध्याय में केवल योग का विषय है। पाँचवें अध्याय में परमात्मरूप भगवान् शिवजी की स्तुति बड़े ही भावपूर्ण और प्रभावशाली वाक्यों में की गई है। दसवें अध्याय में ईश्वर के भक्तों और प्रियजनों के लक्षण बताये गये हैं। मोक्ष का स्वरूप भी वहीं बताया गया है।

इस गीता में धार्मिक विचारों की गुरुता, दार्शनिक विषयों की गम्भीरता, भक्ति-भावों की निर्मलता और हार्दिक भावों की उदारता खूब

ही दिखाई गई है। इसमें सभी धर्म अच्छे कहे गये हैं। किसी की निन्दा नहीं की गई। सभी धर्मानुयायी परम-पद को पहुँच सकते हैं। ईश्वर की उपासना अनेक प्रकार से हो सकती है। उस के लिए सभी मार्ग खुले हुए हैं। उसकी प्राप्ति सभी मार्गों से हो सकती है। जो शुद्धभाव से फल, फूल, पत्रादि भेंट करता है उसे ईश्वर ग्रहण करता है। मनुष्य चाहे जिस मार्ग से उस की उपासना करे, क्योंकि सभी मार्ग अच्छे हैं, तथापि भक्ति-मार्ग सब से सरल और साध्य है। मोक्षोपलब्धि में वह बहुत उपयोगी है। अतएव इस मार्ग की विशेषतया प्रशंसा की गई है।

भगवद्गीता और ईश्वरगीता में बहुत सी बातें मिलती हैं। उन में से कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है।

(१) सांख्य और योग दोनों एक ही हैं। इन में भिन्नता नहीं। जो इनमें भिन्नता समझता है वह ज्ञानी नहीं।

(२) ईश्वर-प्राप्ति सभी मार्गों से हो सकती है। अपने भक्तों को ईश्वर सभी मार्गों से स्वीकार करता है।

(३) सभी मार्ग अच्छे हैं। परन्तु भक्ति-मार्ग सब से सरल और उपयोगी है।

(४) दोनों गीताओं में सृष्टि की उत्पत्ति, सांख्यदर्शन के विचारों के अनुसार ही, कही गई है।

(५) भगवद्गीता में जैसे श्रीकृष्णजी ने विश्वरूप दिखाया है वैसे ही ईश्वरगीता में शिवजी ने दिखाया है। इन दोनों विश्वरूपों का वर्णन एकसा है।

(६) विश्वरूप देखने पर जैसी दीन प्रार्थना अर्जुन ने की है वैसी ही ऋषियों ने शिवरूप देखने पर की है।

(७) भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने अपनी विभूतियां सारे संसार में

वताई हैं। ईश्वरगीता में महादेवजी ने भी अपनी विभूतियां दिखाई हैं।

- (८) आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप दोनों गीताओं में एक ही सा वर्णन किया गया है।
- (९) परमात्मा की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तता, विश्वरूपता, अनादिता, अनन्तता दोनों गीताओं में एकसी कही गई है।
- (१०) ईश्वर के भक्तों के लक्षण दोनों में एकही से हैं।
- (११) मोक्ष का वर्णन भी एकही सा है।
- (१२) दोनों ही गीताओं में निष्काम कर्म करने का उपदेश है। मनुष्य जो कुछ करे उसे ईश्वर के लिये करे। अपने सभी काम ईश्वरार्पण कर दे।
- (१३) संस्कृत दोनों गीताओं की एकसी है—अर्थात् सरल, सरस और मनोहर है। बड़े बड़े समास अथवा अलङ्कार, जो पीछे के ग्रन्थों में मिलते हैं, इनमें नहीं।

इससे तथा और कारणों से यह कह सकते हैं कि यह गीता भी उतनी ही प्राचीन है जितनी कि भगवद्गीता है।

ईश्वर-गीता में छटा और ग्यारहवां अध्याय विलक्षण ही है। छटे में ईश्वर के जगच्छासन का महत्त्व और प्रभाव दिखाया गया है। यह अध्याय अनेक बार पढ़ने योग्य है।

ग्यारहवें अध्याय में राजयोग का सविस्तार वर्णन है। उसके आवश्यक साधन और क्रियायें अच्छी तरह लिखी गई हैं। योग का ऐसा वर्णन और किसी गीता में नहीं।

इस गीता का अनुवाद अभीतक हिंदी अथवा अँगरेजी में नहीं हुआ है।

परिशिष्ट (२) गणेशगीता ।

संस्कृत साहित्य के असीम सागरतल में गीतारूपी अनेक अमूल्य, उज्ज्वल और निर्मल रत्न अदृश्य पड़े हैं। इन रत्नों की ज्योति के सामने संसार के बहुमूल्य रत्न नितान्त मलिन और तिरस्कृत हैं। ये रत्न उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो इस अगम्य अगाध समुद्र में गीता लगा कर उनकी खोज करने की चेष्टा करते हैं। जो केवल ऊपर ही ऊपर रह इसके बाह्य दृश्य देखकर मोहित हो जाते हैं, वे इन रत्नभाण्डारों से निरन्तर वञ्चित रहते हैं। इन रत्नों में से श्रीमद्भगवद्गीता एक है, जिसके प्रकाश, प्रभाव और महत्त्व ने पाश्चात्य संसार के धुरन्धर विद्वान् तत्त्ववेत्ता और दार्शनिक पण्डितों के विचारों में भी हलचल डाल दी है और जिसकी प्रशंसा भूमण्डल के सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है। यह एक ही रत्न नहीं है। ऐसे अनेक रत्न हैं।

शिवगीता, ईश्वरगीता, व्यासगीता, ब्रह्मगीता, यमगीता, अनुगीता, देवीगीता, कपिलगीता, अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता, हंसगीता; पाण्डव-गीता, गणेशगीतादि, इन्हीं रत्नों में से हैं। इनमेंसे प्रत्येक गीता एक अमूल्य रत्न है। अव्ययानन्द भाण्डार की कुञ्जी है, अध्यात्म ज्ञान का निर्मल दर्पण है, मोक्ष प्राप्ति का अद्भुत साधन है, तत्त्व ज्ञान की चरम सीमा है, संसार सागर के पार उतरने की नौका है, लौकिक और परलौकिक सुख का स्रोत है। इनमें से एक रत्न अर्थात् गणेशगीता के रूप का कुछ परिचय इस लेख में दिया है। यह गीता गणेश पुराण के अन्तर्गत है। इसका उपदेश आदिदेव गणेश जी ने राजा वरेण्य को किया था, ब्रह्मा जी ने इस उपदेश को व्यास जी से कहा, व्यास जी ने सूत जी से और सूत जी ने शौनक ऋषि से कहा। यही उपदेश की परम्परा है। यह गीता योगमार्ग-प्रदर्शनी है। इसमें ४१४ अनुष्टुप् छन्द के श्लोक हैं और निम्नलिखित ११ अध्याय हैं—

१—सांख्यसाराथं योगो नाम प्रथमोऽध्यायः	श्लोक	६६
२—कर्मयोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः	"	४३
३—विज्ञान प्रतिपादनो नाम तृतीयोऽध्यायः	"	५०
४—वैध सन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः	"	३७
५—योगवृत्ति प्रशंसनो नाम पञ्चमोऽध्यायः	"	२७
६—बुद्धि योगो नाम षष्ठोऽध्यायः	"	२१
७—उपासना योगो नाम सप्तमोऽध्यायः	"	२५
८—विभ्ररूप दर्शनो नामाष्टमोऽध्यायः	"	२६
९—क्षेत्रज्ञातृहेय विवेक योगो नाम नवमोऽध्यायः	"	४१
१०—उपदेश योगो नाम दशमोऽध्यायः	"	२३
११—त्रिविधवस्तुविवेक निरूपणं नामैकादशोऽध्यायः	"	५२

पहला प्रश्न यह है कि योग क्या है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि अनेक प्रकार के साधनों को योग कहते हैं तथापि योग उसी साधन का नाम है जिससे मनुष्य को अभेद बुद्धि प्राप्त हो। समस्त संसार की पृथक्-पृथक् वस्तुओं को देखते हुए जानना कि ये सब वास्तव में एक ब्रह्म रूप ही हैं और उनमें कोई वास्तविक भिन्नता नहीं है। जितने देवता हैं सब एकही ब्रह्म के पृथक्-पृथक् रूप हैं, परन्तु वास्तव में सब एकही हैं; ऐसे ज्ञान होने को अभेद बुद्धि कहते हैं। जिस साधन से ऐसी अभेद बुद्धि प्राप्त हो, वही योग्य है। इसी आशय को श्रीगणेशजी ने निम्न श्लोक में कहा है:—

शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिपः ।

याऽभेदबुद्धिर्योगः स सम्यग्योगो मतो मम ॥ २१ ॥ अध्याय १

शिव, विष्णु, शक्ति सूर्य और गणेश, इन सबको एकही समझना और उनमें भेद नहीं जानना श्रेष्ठ योग है।

इस गीता में और भगवद्गीता में बहुत कुछ मतसमता है। यह समता निम्नलिखित विषयों में मिलती है:—

योग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, उपासना, व्यक्तान्यक्त विचार, योगी अथवा ज्ञानी की परिभाषा, मोक्ष प्राप्ति के साधन, पुण्य पाप विषय विवेचन, विश्वरूपदर्शन, देवी, आसुरी और राक्षसी प्रकृतियों का वर्णन, तप, दान, सुख, ज्ञानादि का तीन प्रकार से वर्णन, सार्वभौमिक श्रेष्ठतम सिद्धान्त इत्यादि । अब गणेशगीता के इन विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं ।

योग ।

शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप ।

याऽभेदबुद्धिर्योगः स सम्यग्योगो मतो मम ॥ २१ ॥ अध्याय १

योगमन्यं प्रवक्ष्यामि शृणु भूप तमुत्तमम् ।

पशौ पुत्रे तथा मित्रे शत्रौ बन्धौ सुहृज्जने ॥ २१ ॥ ”

बहिदृष्ट्या च समया हृत्स्थया लोकेत्युमान् ।

सुखे दुःखे तथाऽमर्ये हर्षे भीतौ समो भवेत् ॥ २२ ॥ ”

रोगान्तौ चैव भोगान्तौ जये वा विजयेऽपि च ।

श्रियोऽयोगे च योग च लाभालाभे मृतावपि ॥ २३ ॥ ”

समो मां वस्तु जातेषु पश्यनन्तर्बहिः स्थितम् ॥ २४ ॥ ”

संपराहृत्य स्वायेभ्य इन्द्रियाणि विवेकतः ।

सर्वत्र समता बुद्धिः स योगो भूप मे मतः ॥ २७ ॥ अध्याय १

आत्मानात्मविवेकेन या बुद्धिर्देव योगतः ।

स्वधर्मासक्तचित्तस्य तद्योगो योग उच्यते ॥ २८ ॥ ”

भावार्थ—शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और गणेश इन सबको एक ही समझना और उनमें कोई भेद नहीं जानना, श्रेष्ठ योग है । मनुष्य को बाह्ये कि पशु, पुत्र, मित्र, शत्रु, बन्धु, सुहृद, इन सबको हृदयस्थिता से एक दृष्टि से देखे । सुख दुःख हर्ष शोक, भय, रोग, भोग, जय, विजय, लाभ, अलाभ, योग, अयोग मृत्यु आदि में एक ही वृत्ति रखे । ऐसी वृत्ति से समस्त वस्तुओं के भीतर और बाहर सुभी को स्थित

देखे । विवेक द्वारा इन्द्रियों को स्वार्थ से हटा कर सर्वत्र एक बुद्धि हो जाना ही योग है । आत्मा क्या है ? अनात्मा क्या है ? ऐसा विवेक करता हुआ अपने धर्म में लगा रहना योग है ।

कर्मयोग ।

यस्य यद्विहितं कर्म तत्कर्तव्यं मदर्पणम् ।
ततोऽस्य कर्मधाजानामुच्छिन्नाः स्युर्महाङ्कुराः ॥ ३६ ॥ अध्याय १
चित्तशुद्धिश्च महती विज्ञानं साधिका भवेत् ।
विज्ञानेन हि विज्ञातं परं ब्रह्म मुनीश्वरैः ॥ ३७ ॥ ”
तस्मात्कर्माणि कुर्वीत बुद्धियुक्तो नराधिप ।
न त्वकर्मा भवत्कोऽपि स्वधर्मत्यागवास्तथा ॥ ३८ ॥ ”
जहोति यदि कर्माणि नतः सिद्धिं न विन्दति ।
आशौ दाने नाधिकारः कर्मण्येव स युज्यते ॥ ३९ ॥ ”
कर्मणा शुद्धं हृदयोऽभेदबुद्धिर्मुपैष्यति ।
स च योगः समाख्यातोऽमृतत्वाय हि कल्पते ॥ ४० ॥ ”
कदाचिदक्रियः कोऽपि क्षणं नैवावतिष्ठते ।
अस्वतंत्रः प्रकृतिजैर्गुणैः कर्म च कार्यते ॥ ४ ॥ अध्याय २
कर्मकारान्द्रियग्राम नियम्यास्ते स्मरन्पुमान् ।
तेद्वेचरान्भन्द्वाचित्तो धिगाचारः स भाष्यते ॥ ५ ॥ ”
तद्ग्रामं संनियम्यादौ मन्त्रला कर्म चारभवेत् ।
इन्द्रियैः कर्मयोग यो वितृष्णः स परो नृप ॥ ६ ॥ ”
असमर्थं निवध्यन्ते कर्म तेन जना मयि ।
कुर्वीत सततं कर्मानाशाऽसंगो मदर्पणम् ॥ ८ ॥ ”
मदर्थेयानि कर्माणि तानि बध्नन्ति न क्वाचेत् ।
सघासनामिदं कर्म बध्नन्ति देहिनं बलात् ॥ ९ ॥ ”
अन्तरात्मानि यः प्रीत आत्मारामोऽखिलाप्रियः ।
आत्मतृप्तो नरो यः स्यात्तस्यार्थो नैव विद्यते ॥ १७ ॥ ”

कार्याकार्यकृतीनां स नैवाप्नोति शुभाशुभे ।

किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा ॥ १८ ॥ अध्याय २

अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ।

सक्तोऽंगतिमवाप्नोति मामवाप्नोति तादृशः ॥ १९ ॥ ”

नित्यं नैमित्तिकं तस्मान्मयि कर्माप्येद्वुधः ।

त्यक्त्वाहंममतां बुद्धिं परां गतिं मवाप्नुयात् ॥ २० ॥ ”

अनीष्यन्तो भक्तिमन्तो ये मयोक्तमिदं शुभम्-

अनुतिष्ठन्ति ये सर्वे मुक्तास्तेऽखिलकर्मभिः ॥ २१ ॥ ”

क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने ।

तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यगात्तरय विशिष्यते ॥ २ ॥ अध्याय ४

केवलं कर्मणां न्यासं सन्यासं न विदुर्बुधाः ।

कुर्वन्निच्छया कर्म योगी बह्वैव जायते ॥ ६ ॥ ”

तत्सर्वमर्पयेद्ब्रह्मण्यपि कर्म करोति यः ।

न लिप्यते पुण्य पापैर्भानुर्जलगतो यथा ॥ ६ ॥ ”

कायिकं वाचिकं बौद्धमैन्द्रियं मानसं तथा ।

त्यक्त्वाशां कर्म कुर्वन्ति योगशास्त्रिणश्च शुद्धये ॥ १० ॥ ”

कामना द्वेषदम्भैर्यद्रहितं नित्यकर्म यत् ॥ १४ ॥ अध्याय ११

कृतं विना फलेच्छां यत्कर्म सात्त्विकमुच्यते ॥ १५ ॥ ”

धैर्यात्साही समोऽसिद्धौ सिद्धौ चाविक्रियस्तुयः ।

अहंकार विमुक्तो यः स कृत्वा सात्त्विको नृप ॥ १८ ॥ ”

भावार्थ—जो जिसका विहित कर्म है उसे मेरे अर्पण करना चाहिये, इससे मनुष्य में उन कर्मों के बीजों से अच्छे अंकुर उत्पन्न होंगे, चित्त की शुद्धि भी होगी। यह आत्मज्ञान-प्राप्ति का साधन है और आत्मज्ञान से परं ब्रह्म का ज्ञान होता है। इसलिये बुद्धियुक्त होकर कर्म करना चाहिये। कर्म करना कभी नहीं छोड़ना चाहिये और न अपने धर्म का त्याग ही करना चाहिये। यदि कर्म करना छोड़ दोगे, तो सिद्धि-प्राप्ति

नहीं होगी। पहले पहले ज्ञान में अधिकार नहीं है, कर्म करने में ही है। कर्म करके जिसका हृदय शुद्ध हो गया है उसी की अभेद बुद्धि होती है। यह अभेद बुद्धि ही श्रेष्ठ योग है जिस से अमृत कपी मोक्ष मिलती है।

यदि कोई कर्म किये बिना रहना चाहे तो यह बात एक क्षण भी नहीं हो सकती है। मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुये गुणों से बंधा हुआ, स्वयम् कर्म करता है। जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोक कर मन में विषयों का स्मरण करता रहता है, वह इन्द्रियों से मन्द चित्त हो जाता है; उसे सदाचारी मनुष्य नहीं कह सकते हैं जो मनुष्य मनके द्वारा इन्द्रियों को बश में कर के, कर्म करता रहता है वह इन्द्रियों की तृष्णा से रहित हो कर कर्मयोग करता है और वही श्रेष्ठ मनुष्य है। जो मनुष्य मुझे अपने कर्म अर्पण नहीं करते हुए कर्म करते हैं, वे उन कर्मों से बन्धन में पड़ते हैं, परन्तु जो कामना रहित हो अपने कर्मों को मुझे अर्पण कर के करते हैं उन के कर्मों का नाश हो जाता है अर्थात् उनको बन्धन नहीं होता है।

जो कर्म मेरे अर्पण कर दिये जाते हैं उनसे बन्धन नहीं होता है। जो कर्म वासना सहित किया जाता है उससे बन्धन होता है। जिनकी प्रीति भीतर की आत्मा में होती है और जो आत्मा में ही सदैव रमण करते रहते हैं वे सभी के प्रिय हैं। जो मनुष्य आत्मा में तृप्त रहता है उसको इन्द्रिय विषय नहीं सताते हैं। ऐसा मनुष्य चाहे अच्छा बुरा काम कैसा ही क्यों न करे उसे अच्छा और बुरा फल नहीं लगता है। इसे संसार भर के जीवों में कोई कर्म करना नहीं रहता है। इस लिये मनुष्यों को असक्त हो कर कर्म करना चाहिए; क्यों कि जो सक्त हो कर कर्म करते हैं उनकी बुरी गति होती है और जो असक्त हो कर करते हैं वे मुझे प्राप्त करते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि ममता और अहंकार को छोड़ कर अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म मुझे अर्पण करे, जिससे उसकी पराङ्गति हो।

जो इच्छा त्याग कर मेरे अर्थ कर्म करते हुए भक्ति करते हैं वे सब कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। कर्मयोग और ज्ञान-योग दोनों मोक्ष के साधन हैं। इन दोनों में कर्म-योग कामना त्याग करने के कारण ज्ञानयोग से बढ़ कर है। केवल कर्मों को त्याग देना संन्यास नहीं है। इच्छा छोड़ कर कर्म करने से मनुष्य ब्रह्म समान हो जाता है। जो मनुष्य कर्म का ईश्वर के समर्पण कर के करता है, उसे पुण्य पाप ऐसे ही नहीं लगते हैं जैसे जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब को नहीं। योग जानने वाले मनुष्य चित्त की शुद्धि के लिये काय, ध्यान, बुद्धि, इन्द्रियाँ और मन से जो कर्म करते हैं, उन्हें आशा छोड़ कर करते हैं। जो कर्म, कामना, द्वेष, दम्भ और कल इच्छा त्याग कर किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म है। धैर्यवान्, उत्साही, सिद्धि, असिद्धि में एकसा अहंकाररहित कर्म करने वाला सात्त्विक कर्ता कहलाता है।

ज्ञान योग ।

- पञ्चभूतानि तन्मात्राः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
 अहंकारो मनो बुद्धिः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च ॥ २१ ॥ अध्याय ६
 इच्छाव्यक्तं धृतिद्वेषौ सुख दुःखे तथैव च ।
 चेतनासहितभ्रायं समूहः क्षेत्रमुच्यते ॥ २२ ॥ ,,
 आर्जवं गुरुशुश्रूषा विरक्तिश्चेन्द्रियार्थतः ।
 शौचं क्षान्तिरदंभश्च जन्मादिदोषवीक्षणम् ॥ २४ ॥ ,,
 समदृष्टिर्दृढाभक्तिरेकान्तित्वं शमो दमः ।
 यतैर्यच्च युतं ज्ञानं तज्ज्ञानं विद्धि बाहुज ॥ २५ ॥ ,,
 यदिनादीन्द्रियैर्हीनं गुणभुग्गुणवर्जितम् ।
 अव्यक्तं संवसद्भिर्भिमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥ २७ ॥ ,,
 विभ्रभ्रुष्वाखिलव्यापिं त्वेकं नानेव भासते ।
 पादाभ्यन्तरतः पूर्णमसग तमसः परम् ॥ २८ ॥ ,,

दुर्लभं चातिरूपात्तन्नादीप्तानामपि भासकम् ।
 श्रेयमेतादृशं विद्धि ज्ञानगम्यं पुरातनम् ॥ २६ ॥ ”
 सर्वेषां मूपयज्ञानां ज्ञानयज्ञः परोमतः ।
 अखिलं लीयते कर्म ज्ञाने मोक्षस्य साधने ॥ ३६ ॥ अध्याय ३
 भक्तिमार्निद्रियजयी तत्परो ज्ञानमाप्नुयात् ।
 लब्ध्वा तत्परमं मोक्षं स्वल्पकालेन यात्वसौ ॥ ४७ ॥ ”
 भक्तिहीनोऽश्रद्धधानः सर्वत्र संशयी तु यः ।
 तस्य शं नापि विश्वानमिह लोकोऽथ वापरः ॥ ४८ ॥ ”
 ज्ञानखल्लग्रहारेण संभूतामज्ञतां वलात् ।
 किञ्चान्तः संशयं तस्माद्योगयुक्तो भवेन्नरः ॥ ५० ॥ ”

क्षेत्र ।

भावार्थ—पञ्चभूत, तनमात्रायं, पञ्चकर्मेन्द्रियां, पंचज्ञानेन्द्रियां, अहं-
 कार, मन, बुद्धि, इच्छा धृति, द्वेष, सुख, दुःख, इन सबका चेतना
 सहित समूह क्षेत्र कहलाता है ।

ज्ञान ।

आर्जव, गुरुशुश्रूषा, इन्द्रियों के विषय से विरक्ति, शौच, क्षांति,
 अभिमानत्याग, समदृष्टि, दृढ़ भक्ति, एकान्त, शम, दम और जन्म
 आदि के दोषों को देखना; इतने लक्षणों से जो ज्ञान संयुक्त है, उसे
 ज्ञान समझो ।

ज्ञेय ।

जो अनादि, इन्द्रियहीन, गुणवर्जित तथापि गुणों का भोगने
 वाला, अमूर्ति, सत् असत् से भिन्न, इन्द्रियों के अर्थ से परे, संसार
 को पालने वाला, सर्वत्रव्यापी, एक होके भी अनेक दिखाने देने वाला,

भीतर बाहर से पूर्ण, सब वस्तुओं के संग से रहित, अज्ञान अन्धकार से पने, जानने में दुर्लभ, अति सूक्ष्म, प्रकाशमान्, वस्तुओं का प्रकाश देने वाला; ऐसे ज्ञान साधन की वस्तु को ज्ञेय जाने । सब यज्ञों में ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है, ज्ञान मोक्ष का साधन है, इससे लंब फर्मों का लोप हो जाता है । जो मनुष्य जितेन्द्रिय है और भक्तिमान् है उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान प्राप्ति से थोड़े ही समय में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । जो भक्तिहीन और श्रद्धाहीन है और जिसे संशय रहते हैं, उसे ज्ञान प्राप्ति नहीं होती है, और उसका भला न इस लोक में और न पर लोक में होता है । अज्ञान को ज्ञान की तलवार से काट देना चाहिये । इससे सब संशयों का नाश हो जाता है; इसलिये मनुष्य को चाहिये कि ज्ञान योग का साधन करे ।

भक्तियोग ।

ज्ञाननिष्ठात्तयो निष्ठात्कर्म निष्ठान्नराधिप ।

श्रेष्ठो योगी श्रेष्ठतमो भक्तिमान्मयि तेषु यः ॥ २७ ॥ अ० ५

भक्तिश्चैवाद्दरश्चात्र कारणं परमं मतम् ।

सर्वेषां विदुषां श्रेष्ठो ह्यकिंचिज्भक्तोऽपि भक्तिमान् ॥ ७ ॥ अ० ६

भजन्भक्त्या विहीनो यः स चाण्डालोऽभिधीयते ।

चाण्डालोऽपि भजन्भक्ता ब्राह्मणोभ्योऽधिको मम ॥ ८ ॥ ,,

शुकाद्याः सनकाद्याश्च पुरासुक्ता हि भक्तितः ।

भक्त्यैव मामनुप्राप्ता नारदाद्याश्चिरायुषः ॥ ९ ॥ ,,

अतो भक्त्यामयि मनोविवेहि बुद्धिमेव च ।

भक्त्या यजस्व माराजस्ततो रामेव यास्यसि ॥ १० ॥ अध्याय ६

यद्देवान्भजते भक्त्या सात्त्विकी सा मता शुभा ॥ १६ ॥ ,, १०

भावार्थ—ज्ञान, तप और कर्म, इनमें एक के पीछे एक श्रेष्ठ है; परन्तु जो मेरी भक्ति करता है, वह सब में श्रेष्ठ है । भक्ति बड़ी है; सब

विद्वानों में निरक्षर भक्त भी बढ़ कर है। जो भक्ति के बिना भजन करता है, वह चाण्डाल है, और जो चाण्डाल भी भक्तिसे भजन करता है, वह मुझे ब्राह्मण से भी अधिक है। पहले शुक, सनकादि ऋषियों ने भक्ति से ही मोक्ष पाई है। नारदादि ऋषि भक्ति से ही मुझे प्राप्त करके चिरायु हुए हैं। इसलिये मुझ में ही भक्ति द्वारा मन और बुद्धि को लगाओ, भक्ति से ही मेरी पूजा करो। ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य प्राप्त करोगे। जिस भक्ति से देवताओं की पूजा की जाती है, वह सात्विकी भक्ति है।

उपासना ।

ध्यानाद्यैरुपचौरमां तथा पञ्चामृतादिभिः ॥ ६ ॥ अध्याय ७
 त्रिविधास्वपि पूजासु श्रेयसी मानसी मता ॥ १० ॥ " "
 साप्युत्तमा मता पूजानिच्छया या कृता मम ।
 ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिश्च यः ॥ ११ ॥ " "
 एकां पूजां प्रकुर्वाणोऽप्यन्यां वा सिद्धिमृच्छति ॥ १२ ॥ " "

भावार्थ—मेरी उपासना तीन प्रकार की है, अर्थात् ध्यान उपासना, उपचार उपासना और फल, पत्र, पुष्प जल आदि की भेट उपासना। इन तीनों उपासनाओं में मानसी उपासना श्रेष्ठ है। इसमें भी जो फल-इच्छा छोड़ कर पूजा की जाती है, वह सब में उत्तम है। उपासना करने वाला चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो अथवा संन्यासी हो, जो कोई भी एक पूजा को करता है, उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

व्यक्ताव्यक्त विचार ।

अव्यक्तोपासनाद्दुःखमधिकं तेन लभ्यते ।

व्यक्तस्योपासनात्साध्यं तद्देवाव्यक्तमक्तितः ॥ ६ ॥ अध्याय ६

निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने से मनुष्य को अधिक दुःख सहना

पड़ता है। सगुण उपासना सहज है; इससे वही फल मिलता है जो निर्गुण उपासना से मिलता है।

योगी ज्ञानी और भक्त ।

सूर्ये सोमे जले वह्नौ शिवे शक्तौ तथानिले ॥ ४४ ॥ अध्याय १
द्विजेहृदि महानद्यां तीर्थे क्षेत्रेऽघनाशिनि ।
विष्णोच सर्वदेवेषु तथा यत्तोरगेषु च ॥ ४५ ॥ ”
गन्धर्वेषु मनुष्येषु तथा तिर्यग्भवेषु च ।
सततं मां हि यः पश्येत्सोऽयं योगविदुच्यते ॥ ४६ ॥ ”
फलतृष्णां विहाय स्यात्सदा तृप्तो विसाधनः ।
उद्यत्कोऽपि क्रियां कर्तुं किञ्चिन्नैव करोति सः ॥ ४६ ॥ अध्याय ३
निरीहो निर्गृहीतात्मा परित्यक्त परिग्रहः ।
केवलं वै गृहं कर्माचरन्नायाति पातकम् ॥ ४७ ॥ ”
अद्वन्द्वोऽमत्सरो भूत्वा सिद्धय सिद्धयोः समश्च यः ।
यथाप्राप्त्येह संतुष्टः कुर्वन्कर्म न वध्यते ॥ ४८ ॥ ”
अखिलैर्विषयैर्मुक्तो ज्ञान विज्ञानवानपि ।
यज्ञार्थं तस्य सकलं कृतं यन्मयि चार्पितम् ॥ ४९ ॥ ”
ज्ञान विज्ञान संयुक्ते द्विजे गवि गजादिषु ।
समेक्षणा महात्मानः परिडताः श्वपचेशुनि ॥ ५० ॥ अध्याय ४
ब्रह्मरूपं जगत्सर्वं पश्यति स्वान्तरात्मनि ।
एवं भोगश्च संन्यासः समानफलदायिनौ ॥ ५१ ॥ ”
सुहृत्त्वे च रिपुत्वे च उद्धारे चैव बन्धने ।
आत्मनैह्यात्मनो ह्यात्मा नात्मा भवति कश्चन ॥ ५२ ॥ अध्याय ५
मानेऽपमाने दुःखे च सुखेऽसुहृदि साधुषु ।
मित्रेऽमित्रेऽप्युदासीने द्वेष्ये लोष्टे च काञ्चने ॥ ५३ ॥ ”
समो जितात्मा विज्ञानी ज्ञानीन्द्रिय जयावहः ॥ ५४ ॥ ”
एवं कुर्वन्सदा योगी परां निर्वृतिमुच्छति ।

विश्वस्मिन्नजमात्मानं विश्वं च स्वात्मनीक्षते ॥ १५ ॥ ”

निरहंममाता बुद्धिरक्षेपः शरणः समः ।

लाभालाभे सुखे दुखे मानामाने समं प्रियः ॥ १६ ॥ अध्याय ६

रिपौ मित्रेऽथ गार्हायां स्तुतौशोकं समः समुत् ।

मौनी निश्चलधीभक्तिरसंगः स च मे प्रियः ॥ १७ ॥ ”

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा, जल, अग्नि, शिव, शक्ति, वायु, ब्राह्मण, नदी, तीर्थ, क्षेत्र, विष्णु, यज्ञ, उरग, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षि; इन सब में जो मुझी को निरन्तर व्याप्त देखता है, वही योगी है। जिसकी फल वृष्णा चली गई है और जो सदा वृक्ष रहना है और जिसका कोई साधन नहीं है, उसे क्रिया करते भी कोई कर्म नहीं लगता है। जिसकी आत्मा वश में है, जिसको कोई इच्छा नहीं है, जो कोई चीज़ ग्रहण नहीं करता है, वह कोई कर्म भी करता है, तो उसको पाप नहीं होता है। जो निर्द्वन्द्व है, अर्थात् जिसको गर्मा, सर्दा, सुख, दुःख कुछ नहीं सताते हैं, जिसमें अपनापन कुछ नहीं रहा है, जो सिद्धि और असिद्धि में एकसा ही रहता है, जिसको जो कुछ मिल जाता है उसी से संतुष्ट रहता है, वह कर्म करे तबभी उसे कर्मका बन्धन नहीं होता है, जो सब विषयों से रहित है, जो ज्ञान और विज्ञान दोनों में कुशल है, उस के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

महात्मा लोग, ज्ञानी और अज्ञानी ब्राह्मण में पशुओं में हाथी आदि जानवरों में और कुत्तों में, एक ही दृष्टि रखते हैं। जो अपनी आत्मा में ब्रह्म रूप सब संसार को देखता है, वही योगी और वही संन्यासी है। योग और संन्यास दोनों का फल एकसा है। मित्र शत्रु में, उद्धार बन्धन में, एक आत्मा ही आत्मा जानो—अनात्मा नहीं। मान, अपमान, सुख दुःख, शत्रु साधु, मित्र अमित्र, सोना मिट्टी; इन सब में ज्ञानी और जितेन्द्रिय मनुष्य एकसा हो देखता है। योगी सदा ही बड़ी निवृत्ति की इच्छा करता है, अपनी आत्मा को सब विश्व में और सब

को अपनी आत्मा में देखता है। जो मनुष्य निरहंकार ममता बुद्धि रहित है तथा किसी से द्वेष नहीं करता है और लाम, अलाम, मुख दुःख, मान अपमान में एकसा है, वही मेरा प्रिय भक्त है। जो शत्रु मित्र में, निन्दा स्तुति में और शोक में एकसा रहता है, मौनी है, फल की इच्छा नहीं करता हुआ स्थिर बुद्धि से भक्ति करता है, वही मेरा प्रिय भक्त है।

बीजप्राप्ति ।

ममताहंकारं त्यक्त्वा सर्वान्कामांश्च यस्त्यजेत् ।
 नित्यं ज्ञानरतो भूत्वा ज्ञानान्मुक्तिं स यास्वति ॥ ६८ ॥ अध्याय १
 अतो भक्त्या मयि मनो विधेहि बुद्धिमेव च ।
 भक्त्या यजस्व मां राजंस्ततो मामेव यास्यसि ॥ १० ॥ अध्याय ६
 नित्यं नैमित्तिकं तस्मान्मयि कर्माप्येद् बुधः ।
 त्यक्त्वाहं ममताबुद्धिं परां गतिमवाप्नुयात् ॥ ३० ॥ अध्याय २
 अनीर्ष्यन्तो भक्तिमन्तो ये मयोक्तमिदं शुभम् ।
 अत्रुतिष्ठन्ति ये सर्वे मुक्तास्तेऽखिल कर्मभिः ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो ममता, अहंकार तथा कामादि को छोड़कर नित्य ज्ञान में लगा रहता है वह ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्ति करता है। भक्ति से मेरे में ही मन और बुद्धि लगाओ, भक्ति से मुझे प्राप्त कर लोगे। बुद्धिमात्र मनुष्य को चाहिये कि ममता छोड़, नित्य और नैमित्तिक सभी कर्मों को मेरे अर्पण करे; इससे उसे परांगति मिलेगी। जो कामना रहित भक्त ऐसा करते हैं वे सब कर्मों से छूट जाते हैं।

पाप पुण्य और गति ।

पाप ।

चिन्तयानस्य विषयान्संगस्तेषूपजायते ।
 कामः संजायते तस्मात्ततः क्रोधोऽभिवर्तते ॥ ५६ ॥ अध्याय १

क्रोधादज्ञानसंभृतिविभ्रमस्तु ततः स्मृतेः ।

त्रिंशत्स्मृतेर्मतेध्वं सस्तद्ध्वं सात्त्वोऽपिनश्यति ॥ ६० ॥ ,,

आवृणोति यथा माया जगद्वाप्नो जलं यथा ।

वर्षामेघो यथा भातुं तद्वत्कामीऽखिलांश्चरुद् ॥ ६८ ॥ अध्याय २

भावार्थ—विषयो में ध्यान देने से संग होना है; संग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध होता है, क्रोध से अज्ञान होता है, अज्ञान से स्मृति विभ्रम होता है, स्मृतिविभ्रम से मति का नाश होता है और मति नाश से सर्व नाश हो जाता है। जैसे माया, जगद्वाप्न को ढक लेती है; जैसे वर्षा के मेघ सूर्य को ढक लेते हैं, वैसे ही काम सब को ढक लेता है।

पाप निवारण ।

विनाद्वेषं च रागं च गोचरान्यस्तु खेश्वरेत् ।

स्वाधीनहृदयो वश्यैः संतोषं स समुच्छति ॥ ६१ ॥ अध्याय १

त्रिविधस्यापि दुःखस्य संतोषे विलयो भवेत् ।

प्रज्ञया सांस्थितश्चायं प्रसन्नहृदयो भवेत् ॥ ६२ ॥ ,,

विना प्रसादं न मतिर्विना मात्या न भावना ।

विना तां न शमो भूप विना तेन कुतःसुखम् ॥ ६३ ॥ ,,

इन्द्रियाश्वान्विचरतो विषयाननुवर्तते ।

यन्मनस्तन्मतिं हन्यादप्सु नावं मरुद्यथा ॥ ६४ ॥

बुद्धैवमात्मनात्मानं संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

हत्वा शत्रुं कामरूपं परं पदमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥ अध्याय २

भावार्थ—जो इन्द्रियों को वश में कर के राग द्वेष के विना स्वाधीन हृदय हो जाता है, उसे संतोष प्राप्त होता है; संतोष से तीनों तरह के दुःख जाते रहते हैं। संतोषी मनुष्य की बुद्धि स्थिर होने से प्रसन्न हृदय हो जाता है। ईश्वर की कृपा विना मति नहीं होती, मति के विना

भावना नहीं होती, भावना के बिना शान्ति नहीं होती और शान्ति के बिना सुख नहीं होता। इन्द्रियों के अश्व विषयों के पीछे दौड़ते हैं। जैसे नदी में नौका को पवन भोंके देता है, वैसे ही विषयों में विचरता हुआ मन, मति को डिगा देता है। बुद्धिमान् मनुष्य आत्मा से अपने को वश में करके और अपने आत्मबल से काम रूपी शत्रु को जीत कर परंपद को प्राप्त करते हैं।

सत्संग ।

नाना संगोञ्जनः कुर्वन्नैकं साधु समागमम् ।

करोति तेन संसारे बंधनं समुपैति सः ॥ ४१ ॥ अध्याय ३

सत्संगाद्गुणसंभूतिरापदां लय एव च ।

स्वहितं प्राप्यते सर्वैरिह लोके परत्र च ॥ ४२ ॥ „

भावार्थ—जो मनुष्य तरह २ के संग करता है, परन्तु साधु समागम नहीं करता है, उसे संसार बन्धन होता है। सत्संग से सभी गुण प्राप्त होते हैं और सभी आपत्तियों का लोप हो जाता है। सत्संग से इसलोक और परलोक दोनों में दित होता है।

दान ।

विधिवाक्य प्रमाणार्थं सत्पात्रे देशकालतः ।

श्रद्धया दीयमानं यद्दानं तत्सात्त्विकं मतम् ॥ ७ ॥ अध्याय ११

भावार्थ—विधि और वाक्य प्रमाणों से देशकाल और सत् पात्र को देख कर श्रद्धा पूर्वक दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है।

सुख ।

विषवद्भासते पूर्वं दुःखस्यान्तकरं च यत् ।

इष्यमानं तथा ऽऽवृत्त्या यदन्ते ऽमृतबद्धवेत् ॥ २२ ॥ अध्याय ११

भावार्थ—जो पहले विप के समान दिखाई दे और जो अन्त में दुःख का नाश करे और अन्त में अमृत समान हो जाय, वह सात्विक सुख है ।

तप ।

अक्रामतः श्रद्धया च यत्तपः सात्विकं च तत् ।

अर्थ्ये सत्कारपूजार्थं सद्रम्भं राजसं तपः ॥ ५ ॥ अध्याय ११

भावार्थ—कामना छोड़कर श्रद्धा से जो तप किया जाता है, वह सात्विक तप है । और जो क्रुद्धि सिद्धि के लिए किया जाय वह गर्वान्वित राजस तप है ।

दैवीप्रकृति ।

अपैशून्यं दयाऽक्रोधश्चापल्यं धृतिरार्जवम् ।

तेजोऽभयमहिंसा च क्षमा शौचममानिता ॥ ३ ॥ अध्याय १०

भावार्थ—निरलोभता, दया, अक्रोध, धृति, आर्जव, तेज, निडरता, अहिंसा, क्षमा, शौच, मानशून्यता—ये लक्षण देव प्रकृति के हैं ।

आसुरी प्रकृति ।

अतिवादोऽभिमानश्च दर्पोऽज्ञानं सकोपता ॥ ४ ॥ अध्याय १०

भावार्थ—जलपता, अभिमान, दर्प, अज्ञान, क्रोध; ये लक्षण आसुरी प्रकृति के हैं ।

राक्षसी प्रकृति ।

निष्ठुरत्वंमदोमोहोऽहंकारो गर्व एव च ॥ ५ ॥ अध्याय १०

द्वेषो हिंसाऽदयाक्रोध औद्धत्यं दुर्विनीतता ।

आभिचारिककर्तृत्वं क्रूरकर्मरतिस्तथा ॥ ६ ॥

अविश्वासः सतां घातयेऽशुचित्वं कर्महीनतां ।

निन्दकत्वं च वेदानां भक्तानामसुरद्विषाम् ॥ ७ ॥ ”
 मुनिश्रोत्रियविप्राणां तथा स्मृतिपुराणयोः । ”
 पाखण्डवाश्रये विश्वासः संगतिर्मलिनात्मनाम् ॥ ८ ॥ ”
 सद्भक्तकर्मकर्तृत्वं स्पृहा च परवस्तुषु । ”
 अनेककामनावत्त्वं सर्वदाऽनृतभाषणम् ॥ ॥ ९ ॥ ”
 परोत्कर्षासहिष्णुत्वं पर कृत्य पराहतिः । ”
 इत्याद्या बहवश्चान्ये राक्षस्याः प्रकृतेर्गणाः ॥ १० ॥ ”

भापार्थ—निन्दुरता, मद, मोह, अहंकार, गर्व, द्वेष, हिंसा, अदया, क्रोध, उद्वेगता, अविनय, आचाररहितकर्म क्रूरकर्म में रति, महात्माओं के वाक्यों में- अविश्वास, अशौच, कर्म-हीनता, वेदों की निन्दा, भक्तों से शत्रुता अथवा अप्पि, मुनि, विप्र, स्मृति, पुराण आदि में निन्दा, पाखण्ड वातों में विश्वास, बुरी संगति में प्रीति, अभिमान से कर्म करना, दूसरों की वस्तु लेने की इच्छा अनेक कामनायें करना, हमेशा झूठ बोलना, दूसरों की बढ़ती देख कर जलना दूसरों की कीर्ति को घटाना; ऐसे ऐसे अनेक लक्षण राक्षसी प्रकृति के हैं ।

उपदेश ।

तस्मादेतत्समुत्सृज्य दैवीं प्रकृतिमाश्रय ।

भक्तिं कुरु मदीयां त्वमनिशं दृढचेतसा ॥ १८ ॥ अध्याय १०

भापार्थ—इसलिए इसे छोड़ दैवी प्रकृति का आश्रय लेना चाहिये और दृढ़ चित्त होकर रात दिन मेरी भक्ति करनी चाहिये ।

गति ।

यो मे तत्त्वं विजानाति मोहं त्यजति सोऽखिम् ।

अनेकैर्जन्मभिश्चैवं ज्ञात्वा मां मुच्यते ततः ॥ १२ ॥ अध्याय ९

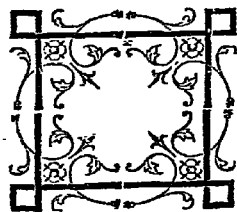
यद्यच्छ्रेष्ठतमं लोके सा विभूतिर्निबोधमे ॥२५॥ ” ”

येन येन हि रूपेण जनो मां पर्युपासते ।

तथा तथा दर्शयामि तस्मै रूपं सुभाकितं ॥ ४० ॥ अध्याय ६

भाषार्थ—जो जो जिस जिस भाव से मेरी सेवा करते हैं, उन्हें मैं वैसा वैसा ही फल देता हूँ । मैं अनेक रूपवाला हूँ । रात दिन मेरा ही स्मरण करना चाहिये । जैसे समुद्र में सब श्रांत आते हैं, वैसे ही मेरे पास सब आते हैं । मेरे प्रभाव और विभूतियों को न तो देवता जानते हैं और न ऋषि जनाते हैं । मैं अनेक विभूतियों से विश्व को व्याप्त करके स्थित हूँ । संसार में जो अच्छी से अच्छी विभूति है, वह मेरी है । जिस जिस रूप से मनुष्य मेरी उपासना करते हैं, उसी उसी रूप को मैं भक्तों को दिखाता हूँ ।

यह गीता पढ़ने योग्य है । आशा है कि पाठकगण इसे अवश्य पढ़ेंगे ।



परिशिष्ट [३]

शुकाष्टक ।

भेदाभेदौ सपदिगलितौ पुण्यपापे त्रिणीर्गो
 सायासाहौ क्षयसुपगतौ नष्टसन्देह वृत्तः ।
 शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्यतत्त्वावदाधं
 निस्रैगुण्ये पथि विचरतः कौविधिः कौनिषेधः ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिसकी सन्देहवृत्तिऐसे तत्त्व की प्राप्ति में नष्ट हो गई है, जो वाणी और तीनों गुणों से परे है, उसमें भेद-अभेद-द्वंद्वों का विचार जाता रहता है, उसके पुण्य पाप दोनों क्षय हो जाते हैं, और न उसमें माया मोह रहते हैं। जो तीनों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि कर्म है और न कोई निषेध (कर्म त्याग) है।

Translation—One whose mind has been purged of doubts by the obtainment of Truth that is inexpressible and unaffected by the triad of the Gunas, relinquishes all ideas of difference and non-difference, becomes free from virtue and sin, and discards all worldly attachments. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatory or any prohibitory action.

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्वहिरथं
 द्रष्ट्वा पूर्णं स्वास्मिन् सततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।
 नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद्भिन्नरूपं
 निस्रैगुण्ये पथि विचरतः कौविधिः कौनिषेधः ॥ २ ॥

भाषार्थ—जिसने अपनी ही पूर्ण आत्मा के दर्शन कर लिये हैं, जो सब शरीरों के भीतर बाहर है, जो इस जगत-रूपी भाण्ड में सदैव एक

ही स्थित है, उसके लिये उस परमात्मारूपी कारण के सिवा और कोई दूसरा कार्य कुछ भी नहीं है। जो तीनों गुणों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—He who has had a full vision of the Self that is within and without all bodies and that stands eternally One filling all this (grand) receptacle of the universe, sees no cause other than that Supreme Cause. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatory nor prohibitory action.

हेमनः कार्यं हृतवहगतं हेममेवेतियद्वत्

क्षीरक्षीरं समरसतया तीयमेवाध्वुमध्ये ।

एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थं

निश्चये पथि विचरतः क्वाविधिः क्वा निषेधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जैसे सुवर्ण की घनी हुई चीज़ अग्नि में डालने से सुवर्ण ही हो जाता है, जैसे दूध, दूध में डालने से एक स्वाद होने के कारण दूध ही हो जाता है, जैसे जल, जल में डालने से जल ही हो जाता है, वैसे ही यह सब (जगत), उस सर्वरूपी पदार्थ में समरसता के कारण ब्रह्म ही हो जाता है। जो तीनों गुण से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—As a thing made of gold is turned into gold thrown into fire; as milk becomes milk thrown into milk; as water becomes water thrown into the midst of water, because of the sameness of the essential matter, so all this (phenomenal world) becomes Brahm

in the midst of that all encompassing being (Brahm). For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitory action.

यस्मिन् विश्वं सकल भुवनं सामरस्यैक भूतं
 उर्वीत्यापोऽनलमनिलखं जीवमेवं क्रमेण ।
 यत्क्षाराब्धौ समरसतया सैन्धवैवत्त्वभूतं
 निसैगुण्ये पथि विचरतः काविधिः कानिषेधः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जैसे खारी समुद्र में, समरसता के कारण, नमक एक ही रूप है, वैसे ही उसमें (ब्रह्म में) सकल भुवन तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी एवं जीव भी समरसता के हेतु एक ही हैं । जो तीनों गुणों से रहित पथि में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है ।

Translation—As salt is one with the salt ocean owing to their common nature, just so all the world—sky, air, fire, water, earth and even life-energy are one in that Eternal Being owing to the one common underlying principle. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitory action.

यद्ब्रह्मोदधि समरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
 तद्ब्रह्मजीवालयपरिगतौ सामरस्यैकभूतौ

भेदातीतं परिलयगतं सच्चिदानन्दरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः काविधिः-कानिषेधः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जैसे नदी और समुद्र मिल समरसता के कारण दोनों ही सागररूप हो जाते हैं, वैसे ही देह में जीव और परमात्मा समरसता से एक ही हैं। इस प्रकार भेद से रहित सर्वान्तर्यामी होने के कारण केवल एक सच्चिदानन्दरूपी है। जो तीनों गुणों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—As the river and the sea become the ocean owing to their common essential nature, just so the individual soul and the supreme soul in the body are one owing to their common essence. All merged in one becomes only one Secondless blissful and intellegent existence. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitory action.

दृष्ट्वाविद्यं परमपदं स्वात्मबोधस्वरूपं
बुद्ध्यात्मनं सकलवपुषामेकमन्नर्वहिस्यम् ।
भृत्त्वानित्यं सदुदितयास्वप्रकाशस्वरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः काविधिः कानिषेधः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—अकथनीय परमपद स्वात्मबोधस्वरूप को और सकल शरीरों के भीतर बाहर एक ही स्थित आत्मा को देखकर और सत्त्व-गुण के उद्वय से नित्य स्वप्रकाशरूप होकर जो तीनों गुणों से रहित पथि में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—For one who having attained the supreme state of the self-knowing entity, having realised the self, prevailing all the phenomenal world within and without, and having thus become self-luminous and eternal existence, walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatory nor any prohibitory action.

कार्याकार्येकिसपिसततं नैवकर्तृत्वमस्ति

जीवन्मुक्तस्थिति रवगते दग्धवस्त्रावभासः ।

एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो वियुक्तो

निसैगुण्ये पथि विचरतः क्वाविधिः क्वानिषेधः ॥ ७ ॥

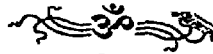
भाषार्थ—जिसका कार्य अकार्य में कभी कुछ भी कर्तृत्व नहीं है, जिसने दग्ध वस्त्रों के समान सब सांसारिक वासनाओं को दग्ध करके जीवनमुक्तस्थिति पायी है, वह शरीर में रहते हुए भी शरीर नष्ट होने पर वियुक्त के समान है। जो तीनों गुणों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—One who has nothing to do with action or inaction, who having burnt up all worldly passions as he has burnt up all his clothes, attains to the goal of the emancipated soul, stands even in this body as if he were a disembodied soul. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatory nor any prohibitory action.

कस्मात्कीर्हं किमपिच भवान् कोऽयमत्रप्रपञ्चः
 स्वस्ववेदां गगनसद्रश्नं पूर्णतत्त्वप्रकाशम् ।
 आनन्दाख्यं समरसवने बाह्यमन्निर्विहीने
 निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥ ८ ॥

भावार्थ—मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? आप कौन हैं ? यह जगत्प्रपञ्च क्या है ? प्रत्येक को अपने जानने योग्य क्या ? जो समरस (ब्रह्मरूप) वन में भीतर बाहर के भेद से रहित आकाश के समान सर्वव्यापी पूर्णतत्त्व प्रकाशरूप आनन्द नामक है अर्थात् जिसे आनन्द के नाम से सूचित करते हैं, वही जानने योग्य वस्तु है । जो दोनों गुणों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है ।

Translation—What and whence am I ? Who are you ? What is this mirage of the world ? What is to be known by everyone ? That perfect and luminous entity which is all pervasive like the space and which is free from all bonds of within and without owing to the one common underlying principle and which is designated by the name of bliss, is the only thing worth knowing. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatory nor any prohibitory action.



श्रीमद्

भगवद्-गीता मूलपाठः

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

सञ्जय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतां चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रोपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थं त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषाम् बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अथनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
 भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तःसर्वे गव्यं हि ॥११॥
 तस्य सञ्जनयन्दर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
 सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मो प्रतापवान् ॥ १२ ॥
 ततः शङ्खवाक्त्रं भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
 सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुल्लोऽभवत् ॥ १३ ॥
 ततः भ्वेर्हैर्यैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
 माथवः पाण्डवश्चैव दिव्यां शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
 पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
 पौरुंडं दध्मो महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
 अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पका ॥ १६ ॥
 काश्यपश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
 धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
 द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
 सांभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
 स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
 नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥
 अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
 प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुर्द्वयं पाण्डवः ॥ २० ॥
 हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
 अर्जुन उवाच ।
 सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
 यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामनवस्थितान् ।
 कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
 योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
 धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे मियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
 सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
 भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
 उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति ॥ २५ ॥
 तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पिनत्तुथ पितामहान् ।
 आचार्यान्मातुलान्भ्रातृपुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
 श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
 तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्वन्धूनवास्थितान् ॥ २७ ॥
 कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
 सीदन्ति मम गात्राणि सुखं च परिशुष्यति ।
 वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
 गाण्डीवं संसते हस्ताच्चक्चैव परिदह्यते ।
 न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
 निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
 न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
 न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
 किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
 येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
 त इमैऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
 आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्याला सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
 एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्राक्षः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
 पापमेवाश्रयेदस्मान्दत्त्वेतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
 तस्मान्नाहर्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रन्स्ववान्धवान् ।
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
 यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
 कुलक्षयकृतं दोषं भिन्नद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
 कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
 कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
 कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
 धर्मो नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
 अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
 स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्येय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥
 सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
 पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
 दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
 उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
 उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
 नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
 अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
 यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
 यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
 धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥
 सञ्जय. उवाच ।
 एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
 विमृज्य सशरं चापं शोकसंविग्णमानसः ॥ ४७ ॥
 इति श्री मज्जगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्राह्मविद्यायां योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैर्व्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्स्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदनं ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्, श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव, भ्रुञ्जीय भोगान्बुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥
न चैतद्विन्नः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः, तेऽवास्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रुहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-यच्छोकमुच्छ्रोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
 न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥
 अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
 नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥
 अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
 तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
 अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
 तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
 जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च ।
 तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
 अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
 अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥
 आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्यवद्दति तथैव चान्यः ।
 आश्चर्यं वच्चेन मन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥
 देहिनित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
 तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥
 स्वधर्ममपि चात्रेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
 धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥
 यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
 सुखनःक्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
 अथ चेत्वमिदं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
 ततःस्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
 अंकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्याम् ।
 सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥
 भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
 येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यासि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
 निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
 हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
 तस्माद्दुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
 सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
 ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
 एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
 बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्ध प्रहास्यसि ॥३९॥
 नेहाभिरुमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
 स्वप्नमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
 व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
 बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
 यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
 वेदवादरताः पार्थ नान्यादस्तीति वादिनः ॥४२॥
 कामात्मानः स्वर्गपरा चन्मकर्मफलप्रदाम् ।
 क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
 भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
 व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधायते ॥४४॥
 त्रैगुण्याविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥
 निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
 यावन्नयै उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
 तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥
 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
 मा कर्मफलहेतुर्मा तै सङ्गोऽस्त्वकर्माणि ॥ ४७ ॥
 योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय ।
 सिद्धसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धयोगाद्धनञ्जय ।
 बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलेहतवः ॥४६॥
 बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
 तस्माद्योगाय युज्यस्व योगःकर्मसु कौशलम् ॥५०॥
 कर्मजं बुद्धियुक्तो हि फले त्यक्त्वा मनीषिणः ।
 जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
 यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
 तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
 श्रुतीविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
 समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥
 अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
 स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् ब्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
 आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥
 दुःस्वेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
 वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्भुवि रुच्यते ॥ ५६ ॥
 यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
 नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
 यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गुलीन् सर्वशः ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
 विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
 रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥
 यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
 इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।
 वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥
 ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
 सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्कोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
 क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
 स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
 रागेद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
 आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
 प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
 प्रसन्नेचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
 नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
 न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥
 इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
 तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥
 तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥
 या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
 अस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥
 आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
 तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ७०
 विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
 निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
 एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
 स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
ख्यामिश्रेणोव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन्निविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणां नारम्भात्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽजुर्न ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि ते न प्रासिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
वरस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
 तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
 यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिञ्चिपैः ।
 भुञ्जते ते त्वघ्नं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
 अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
 यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
 कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षरसमुद्भवम् ।
 तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रातीष्ठितम् ॥ १५ ॥
 एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
 अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
 यत्स्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
 आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
 वस्पादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
 असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
 कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
 लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥
 यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
 स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तनुवर्तते ॥ २१ ॥
 न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
 नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
 यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
 मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
 उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।
 सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमांः प्रजाः ॥ २४ ॥

सक्राः कर्मण्यचिद्वासो यथा कुर्वन्ति भारत ।
 कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्राश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
 न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
 जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥
 प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
 अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
 तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
 गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सञ्जते ॥ २८ ॥
 प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
 तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥
 मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा ।
 निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥
 ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
 श्रद्धावन्तोऽनमृत्यन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
 ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
 सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
 सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
 प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
 इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
 तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥
 श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्त्रनुष्ठितात् ।
 स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
 अनिच्छन्नपि बाष्पोऽय वलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

धूमेनाऽद्रियते वह्निर्यथाऽऽद्भूर्गो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्त्वैरिणा ।

कामरूपेण कान्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मल्लारिच्ञ्चाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

यत्नोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म त्रिवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तत्र चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थान मधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजान्यहम् ।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

चालुर्वैर्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्माभिर्न स बद्ध्यते ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि सुस्रुताभिः ॥ १५ ॥

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कथयोऽप्यत्र मोहिताः ।
 तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
 कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
 अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
 कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
 स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥
 यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
 ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं शुभाः ॥ १९ ॥
 त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
 कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥
 निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
 शारिरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपम् ॥ २१ ॥
 यदृच्छन्नालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
 समः सिद्धावासिद्धौ च कृत्वाऽपि न निवद्वयते ॥ २२ ॥
 गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानाद्यस्थितचेतसः ।
 यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥
 ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
 ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
 दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पृथुपासते ।
 ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञैर्नैवोपजु ह्वति ॥ २५ ॥
 भोलादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जु ह्वति ।
 शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जु ह्वति ॥ २६ ॥
 सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
 आत्मसंयमयोगाग्नौ जु ह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
 स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
 अपाने जु ह्वति प्राणं प्राणोऽपानं तथाऽपरे ।
 प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
 अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जु ह्वति ।
 सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
 यज्ञशिष्टासृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
 नार्यं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
 एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
 कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्षयसे ॥ ३२ ॥
 श्रेयान्द्रव्यमयाच्चज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
 सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥
 तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
 उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तच्चदर्शिनः ॥ ३४ ॥
 यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
 येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥
 अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
 सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥
 यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
 ज्ञानाग्निः सर्वकर्माग्निर्भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
 न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
 तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
 श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
 ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥



अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नार्यं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निवध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

तस्माद्ज्ञानराम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानाग्निनाऽऽत्मनः ।

छिन्नं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० ज्ञाननिभागयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न परिहृताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यन्भूएवन्स्पृशन्निघ्नन्नश्नन्चञ्चन्धसन्स्वपन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्वृहन्नुन्मिपन्निमिषन्नपि ।
 इन्द्रिन्याणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
 ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
 लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
 कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
 योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥
 युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्टिकीम् ।
 अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
 सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
 नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
 न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
 न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
 नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विशुः ।
 अज्ञानेनादृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
 ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
 तेषाम्मादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
 तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
 गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥
 विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
 शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
 इहैव तैर्जितः सर्गो तेषां साम्ये स्थितं मनः ।
 निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्राह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥
 न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
 स्थिरबुद्धिरसम्भूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्ततात्मा त्रिन्दत्यात्मानि यत्सुखम् ।
 स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥
 ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
 आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
 शक्तोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
 कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
 योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तज्योतिरेव यः ।
 स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽभिगच्छति ॥ २४ ॥
 लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
 छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
 कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
 अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्वनाम् ॥ २६ ॥
 स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तर भ्रुवोः ।
 प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
 यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
 विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥
 भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
 सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
 स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्य चाक्रियः ॥ १ ॥
 यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
 न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ३ ॥

आरूढोऽसुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
 योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
 यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते ।
 सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
 उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
 आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
 बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
 अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
 जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
 शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
 ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
 युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
 सुहृन्मित्रार्युंदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
 साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
 योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
 एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
 शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
 नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
 तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
 उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
 समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
 सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
 प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
 मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥
 युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
 शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
 न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
 युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
 युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥
 यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
 निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
 यथा दीपो निवातस्थो नेगेते सोपमा स्मृता ।
 योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
 यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
 यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पर्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
 सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
 वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
 यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
 यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥
 तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
 स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसां ॥ २३ ॥
 संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
 मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः २४ ॥
 शनैःशनैरुपरमेदं बुद्ध्या धृतिमृहीतया ।
 आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥
 यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
 ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
 प्रशान्तमनसं ह्येन योगिनं सुखमुत्तमम् ।
 उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
 युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
 सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमन्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि ।
 ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २६ ॥
 यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
 तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ २७ ॥
 सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
 सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ २८ ॥
 आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
 सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
 एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३० ॥
 चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
 तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
 अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३२ ॥
 असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
 वश्यस्त्वना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
 अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३४ ॥
 कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभूमिव नश्यति ।
 अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३५ ॥
 एतं मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
 त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्यपपद्यते ३६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासङ्गमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशय समग्रं मां यथा ज्ञास्यासि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवाशिष्यते ॥ २ ॥
भनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽन्नलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो यथेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यात्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मिं शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः स्वे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
 मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
 त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
 मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमन्ययम् ॥ १३ ॥
 देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
 मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥
 न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
 माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमांश्रिताः ॥ १५ ॥
 चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
 आर्ता जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
 तेषां ज्ञानी नित्युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
 मियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम मियः ॥ १७ ॥
 उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
 आस्थितः स हि युक्तात्मा मावेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
 बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
 चासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥
 कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
 तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
 यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
 तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
 स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
 लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
 अन्तवस्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
 देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
 परं भावमजानन्तो ममाब्ज्यमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
 नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
 मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥
 वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
 भविष्यापि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥
 इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
 सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥
 येषां त्वन्नगत्तं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
 ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥
 जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
 ते ब्रह्म ताद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥
 साधिभूताधिदैवं मयं साधियज्ञं च ये विदुः ।
 प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० ज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।



अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमाधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत् देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्मा भवैष्यस्य संशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यादिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सद्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
 मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
 यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥
 अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
 तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
 मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
 नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
 आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
 मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
 सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षदब्रह्मणो विदुः ।
 रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽद्वैतरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
 अव्यक्ताद्दृश्यः सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।
 रात्र्यागमे प्रलीयन्ते ततैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
 भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
 रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
 परस्तस्मान्नु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
 यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
 अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
 यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
 पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
 यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥
 यत्र काले विनाष्टात्तिमाष्टात्तिं चैव योगिनः ।
 प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
 अग्निज्योतिरहः शुक्लः षणमासा उत्तरायणम् ।
 तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः परमासा दक्षिणायनम् ।
 तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
 शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
 एकया यात्यनाष्टात्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥
 नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
 तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥
 वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
 अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् २८

इति श्रीमद्भगवद्गीता० योगशास्त्रेऽर्जुनस्ययोगो नामाष्टमोऽध्यायः ।



नवमोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
तथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकांस् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निवध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः स्रूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
 महात्मानस्तु मां पार्थ देवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
 भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमन्ययम् ॥ १३ ॥
 सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
 नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
 ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
 एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
 अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
 मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
 पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
 वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
 गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
 प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
 तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
 अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
 त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः
 यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
 ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
 मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
 ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोके विशालम्
 क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति ।
 एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः
 गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
 अनन्याश्रिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
 तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
 तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
 अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
 न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥
 यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
 भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्यांजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥
 पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
 तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥
 यत्करोषिं यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
 यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्षणम् ॥ २७ ॥
 शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ।
 संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
 समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
 ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥
 अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
 साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
 क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
 कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
 मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
 स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥
 किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
 अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥
 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
 मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

दशमोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वं चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभृतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सत्तत्तुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयास्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
 पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विश्वम् ॥ १२ ॥
 आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
 असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
 सर्वमेतद्वत् मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
 न हि ते भगवन्व्याङ्गिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
 स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
 भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
 वक्तुमर्हस्यंशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
 याभिर्विभूतिभिलोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
 कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
 केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
 विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
 भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥
 श्री भगवानुवाच ।
 हन्त ते कथायिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
 माधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
 अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयंस्थितः ।
 अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥
 आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
 मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
 वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
 इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
 रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो थक्षरक्षसाम् ।
 वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
 सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
 महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
 यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
 अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
 गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
 उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
 ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
 आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
 प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥
 अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
 पितृणामर्यमा चास्मि यम संयमतामहम् ॥ २९ ॥
 प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामयम् ।
 मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतैयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥
 पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
 ऋषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
 सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
 अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
 अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
 अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
 मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
 कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्पृतिर्मैधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥
 बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
 मासानां मार्गशीर्षोऽहं मृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥
 द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
 जयोऽस्मि ह्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
 सुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
 दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
 मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥
 यच्चापि सर्वभूतानां वीजं तदहमर्जुन ।
 न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
 नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
 एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
 यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
 तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥
 अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
 विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीता० विभूतिषोगो नाम दशमोऽध्यायः ।



एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यच्चयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतच्चथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्यसूत्रद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो ह्यरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकादिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
 सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
 दिवि सूर्यसदृसस्य भवेद्यगपदुत्थिता ।
 यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
 तत्रैकस्थं जगत्कृस्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
 अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
 ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
 प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान् ।
 ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
 अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
 नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम् पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
 किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
 पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
 त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
 अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
 पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
 द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
 दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदम् लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥
 अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
 स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाःस्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिःपुष्कलाभिः २१ ।
 रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याः विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्णपाश्च ।
 गन्धर्वयक्षासुरीसिद्धसंघाः वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रूपं महत्त बहुवक्त्रनेत्रम् महाबाहो बहुबाहूरूपादम् ।
 बहुदरं बहुदंष्ट्राकरालम् दृष्टा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥
 नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम् व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
 दृष्टा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शर्म च विष्णो ॥ २४ ॥
 दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्व कालानलसन्निभानि ।
 दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥
 अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे संहवावनिपालसंघैः ।
 भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
 वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
 केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमार्गैः ॥ २७ ॥
 यथा नदीनां बहवोऽन्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुख्य द्रवन्ति ।
 तथा तवामी नरलोकवीराः विशन्ति वक्त्रायभिधिज्वलन्ति ॥ २८ ॥
 यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
 तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥
 लोलिहासे ग्रसमानः समन्ता ल्लोकान्समग्रान्दनेर्ज्वलाद्भिः ।
 तेजोभिरापर्युजगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥
 आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
 विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम् न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्री भगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
 ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
 तंसांच्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्मुद्घ्व राज्यं समृद्धम् ।
 मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमाह्वं भव स्वयंसाचिन् ॥ ३३ ॥
 द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
 मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

सञ्जय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णाय सगद्रदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अञ्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रक्रीर्णा जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्याभितविक्रमस्त्वम् सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुकम् हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता माहिमानं तवेदम् मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चाऽवहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभाजनेषु ।

एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षम् तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्राणिधाय कायम् प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हासि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देव रूपम् प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गद्गिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्री भगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदम् रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
 तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यस्य यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
 न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
 एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरूपवीर ॥ ४८ ॥
 मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमादृङ्ममेदम् ।
 व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम् तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
 आश्वासयामास च भीतमेनम् भूत्वा पुनः सौम्यवर्णमहात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्टेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
 इदानीमास्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्री भगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शीमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
 देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥
 नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
 शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
 भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
 ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥
 मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
 निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताः ० विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।



द्वादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्युक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मायि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मायि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यासि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मायि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्नोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यत्तात्मवान् ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
 ध्यानात्कर्मफलत्पागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥
 अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
 निर्ममो निरद्वन्द्वकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
 सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
 मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
 यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
 हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥ ॥
 अन्नपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
 सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
 यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
 शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
 समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
 शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
 तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
 अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥
 ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
 श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।



त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।

एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्याभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ४ ॥

ऋषिभिर्वहुधा गीतं छन्दोभिर्विचित्रैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमाद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥

असकिरनाभिष्वंगः पुत्रदारग्रहादिषु ।

नित्यं च समाचित्त्वामिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥

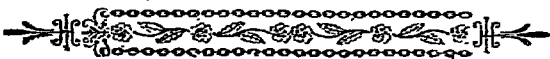
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥

अथात्मज्ञाननित्यत्वं तच्चज्ञानार्थदर्शनम् ।
 एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२ ॥
 ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
 अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३ ॥
 सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
 सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमाद्यत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
 असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥
 वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
 सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १६ ॥
 अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
 भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्यु प्रभविष्यु च ॥ १७ ॥
 ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
 ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १८ ॥
 इति ज्ञेयं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
 मद्भक्त एतद्रिज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥
 प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
 विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ २० ॥
 कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
 पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१ ॥
 पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
 कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥
 उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
 परमात्मैति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २३ ॥
 य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
 सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २४ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
 अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २५ ॥
 अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्यं उपासते ।
 तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥
 यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७ ॥
 समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
 विनश्यत्स्त्रविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २८ ॥
 समं पश्यन्द्द्विं सर्वत् समवस्थितमीश्वरम् ।
 न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परं गतिम् ॥ २९ ॥
 प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
 यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ३० ॥
 यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
 तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३१ ॥
 अनादित्वाग्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
 शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३२ ॥
 यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
 सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३३ ॥
 यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
 क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३४ ॥
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
 भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागशोऽध्यायः ।



चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्री भगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितां गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिमहद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानय ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निवध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान्निवध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखं सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमोदे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मशामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

अमकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
 तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
 यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
 तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
 रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
 तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
 कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
 रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
 सत्त्वात्सञ्चायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
 प्रमादमौहो तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
 ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
 जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसः ॥ १८ ॥
 नान्यं गुणोभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
 गुणोभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
 गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
 जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कौर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
 किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
 न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥
 उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
 गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नैगते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टारमकाञ्चनः ।
 तुल्यभियाभियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
 मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
 सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
 मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
 स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
 ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
 शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।



पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चेर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततःपदं तत्परिमार्गितव्यम् यस्मिन्नाता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषाः अध्यात्मनित्या विनिवृत्तक्रामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्भूत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उत्क्रमन्तं स्थितं वरपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवास्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यदादित्यगंतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
 यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
 गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
 पुष्णामि चौपधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
 प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
 सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
 वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥
 द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
 क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थाऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
 उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
 यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
 यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥
 यो मामेवमसम्भूदो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
 स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
 इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
 एतद्ब्रुवा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीता० पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।



षोडशोऽध्यायः ।

श्री भगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भृतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं देवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥
देवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं देवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त असुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनानविदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः
योहाद्गृहीत्वाऽसदग्राहान्प्रवर्तन्तेऽद्युचिब्रताः ॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेषां च प्रलयान्तामृपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
 इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
 असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
 ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
 आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
 यद्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
 अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
 प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
 आत्मसम्भविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
 यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
 अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
 मामात्मपरदेहेषु प्रद्विपन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
 तानहं द्विपतः कूरात्संसारेषु नराधमान् ।
 क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
 आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मानि जन्मनि ।
 मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधर्मां गतिम् ॥ २० ॥
 त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
 कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादतेत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥
 एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्धारैस्त्रिभिर्नरः ।
 आजरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
 यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
 न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
 तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
 ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हासि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतां देवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।



सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्यं यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममथेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तांस्त्रिधासासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्पेष्टा दुःखशोकात्मयमदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसाप्रियम् ॥ १० ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टोऽय इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
 इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥
 विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणाम् ।
 श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥
 देवाद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
 ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
 अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
 स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
 मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
 भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
 श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्तुविधं नरैः ।
 अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
 सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
 क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं-चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
 मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
 परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
 दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
 देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
 यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलसुद्धिरय वा पुनः ।
 दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
 अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
 असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
 ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
 ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
 तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
 भवन्तन्ते विधानोक्ताः सत्ततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साभाधुवे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।



अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्थ महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुंम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिपूदन ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहत्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायलेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
न द्वेष्यकुशलं कर्म कुशलं नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्याभिधीयते ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
 भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥
 यश्चैतानि महाबाहो कार्यानि निबोध मे ।
 साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
 अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
 त्रिविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
 शरीरवाङ्मनोभिर्वैतकर्म प्रारभते नरः ।
 न्याय्यं वा विपरीतं वा पश्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
 तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
 पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
 यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
 इत्वाऽपि स इमौल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥
 ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
 करणं कर्म कर्तेति त्रिविधं कर्मसङ्ग्रहः ॥ १८ ॥
 ज्ञानं कर्म च कर्ता च विधैव गुणभेदतः ।
 प्रोच्यन्ते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
 सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
 अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
 पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
 वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
 यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्नमद्वैतुकम् ।
 अंतस्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
 नियत संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
 अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
 यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः
 क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाच्चतदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसे स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिर्जैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

ऋषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः सांसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मानिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावानियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमा संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्नोति यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

- । सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
 इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
 मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
 सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
 अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
 इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
 न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
 य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
 भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम् ॥ ६८ ॥
 न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
 भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
 अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादप्रावयोः ।
 ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
 श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
 सोऽपि मुक्तः शुभान्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥
 कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
 कच्चिदज्ञानसन्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥
 अर्जुन उवाच ।
 नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
 स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥
 सब्रज्य उवाच ।
 इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
 संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
 व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
 योगं योगेश्वरात्कृष्णात्सत्त्वात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

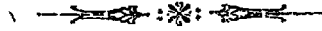
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादिमिमद्भुतम् ।
 केशवार्जुनयोः पुरयं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
 तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
 विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७ ॥
 यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
 तत्र श्रीर्विजयां भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

श्रीकृष्णापणेनरनु ॥ शुभं भवतु ॥



भगवानजी धारसी भाई संघवी द्वारा सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस,
 आगरा, में मुद्रित ।

शुद्धचशुद्धिपत्र ।



पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	७, २५, २६	मूलतत्त्व	मूलतत्त्व
११	१६	आत्मा	आत्मा
१२	३	तन्मात्रार्ण	तन्मात्रार्ण
१२	३	तामसीअहंकार	तामसअहङ्कार
१५	११	पराकाष्ठा	पराकाष्ठा
१८	११	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ
१६	१५	विद्वान्	विद्वान्
२३	३	बुद्धि	बुद्धि
२५	५	उनके	इस शब्द का छोड़ दो
२५	६	भगवान	भगवान्
२७	३	महत्त्व	महत्त्व
३३	८	व्योमयानतार	व्योमयान
३४	२४	मद्य	मद्य
३७	२१, २२	स्पेसिफिकग्रेवैटी	सेन्टर ऑफ ग्रेवैटी
३७	२२	Specific gravity	Centre of gravity
३८	६	था	था
४०	२	श्रद्धा	श्रद्धा
४६	२	वेदिक	वैदिक
४६	३	गृहसूत्र	गृहसूत्र
५१	१५	अन्तरगत	अन्तर्गत
५३	१	चन्द्रजा	चन्द्रजी

५५	२४ वा	का
५७	२ गृहस्थी	गृहस्थ
५७	३ धारण	धारण
५८	१ सव्वोपनिपदो	सव्वोपनिपदो
६०	२ वाशयन्	वाशयात्
६०	७ भनश्चाय	मनश्चाय
६०	११ पश्यति	पश्यन्ति
६०	१३ उसका	उसको
६०	१६ लोको	लोकं
६१	६ प्रोक्तं	प्रोतं
६२	१६ विप्रलीयते	प्रविलीयते
६३	१७ क्रान्तेय	क्रान्तेय
६३	१८ देना ही	करना ही
६३	२० द्दामि	ददासि
६५	६ निवर्त्तन्ते	निवर्त्तन्ते
६६	२३ दुःखेच्छाद्विषो	दुःखेच्छा प्रयत्नाः
६६	२२ प्राणापान	प्राणापान
६७	८ तमसा	तमसः
६८	७ दने	देने
६८	१७ बुरो	बुरे
७०	६ छिन्दति	छिन्दन्ति
७०	६ शास्त्राणि	शास्त्राणि
७१	१२ सर्वव्यापी	सर्वव्यापी
७२	१० संचसन	संचलन
७३	५ धीरा	धीराः
७४	२२, १८ महान्यश	महद्यशः
७५	६ श्रुयते	श्रूयते

७५	८ दृश्यते	दृश्यते
७६	१० वाधि	वाधि
७६	१८ जो	तो
८५	१६ विपय	विपय
८४	१६ नैति नैति	नेति नेति
८५	२ परन्धुवम्	परन्धुवम्
८८	७ राजस्	राजस्
८६	७ तमस्	तामस्
९१	१६ उसर्क	उसकी
९२	१७ ज्ञानशक्तिमान्	ज्ञानशाक्ति
९२	१७ इच्छाशक्तिमान्	इच्छाशक्ति
९२	१७ क्रिया शक्तिमान्	क्रियाशक्ति
९३	६ तेजस्	तेजस्
९७	४ त्रिगुणात्मिक	त्रिगुणात्मक
९८	१२ अनुष्ठान	अनुष्ठान
९८	१४ छान्दिन्य	छान्दोग्य
१००	७ आद्वितीय	अद्वितीय
१०२	११ श्वेताश्वतापनिशत्	श्वेताश्वतरोपनिषत्
१०७	८ अधिदेव	आधिदैव
१०८	१७ हा	ही
११३	६ प्रवृत्ति	प्रवृत्ति
११३	१३ इन्द्रियाथाश्रयः	इन्द्रियाथाश्रयः
११४	५ उपलाधि	उपलाधि
११४	५ लाक्षण	लक्षण
११५	३ प्रवृत्ति से-होते हैं	प्रवृत्ति के दोषों से होते हैं
११७	१४ सविभचार	सव्यभिचार
१२१	१७ वृद्धि	वृद्ध

१२६	६ प्रायश्चित्त	प्रायश्चित्त
१२७	४ पञ्चरात्र	पञ्चरात्र
१२८	११ महात्म	महात्म्य
१२९	७ " "	" "
१३१	१ अहिंसा	अहिंसा
१३१	१७ वृत्ति	वृत्ति
१३२	२ अकाष्ट	अकाष्ट्य
१३८	४ प्रवृत्ति	प्रवृत्ति
१३९	४ कर्ता	कर्त्री
१४०	१८ अवनाशी	अविनाशी
१४०	१६ अप्रमेय	अप्रमेय
१४१	२३ सूक्ष्म	सूक्ष्म
१४९	१५ प्रियास	प्रयास
"	" राजसी	राजस
१४९	१८ सामर्थ्य	सामर्थ्य
"	१९ तामसी	तामस
१५०	१०, १७ राजसी	राजस
१५०	११ दीर्घ	दीर्घ
१५०	१३, २० तामसी	तामस
१५१	१ अश्रय	आश्रय
१५२	८ शान्ति	शान्ति
१५२	१३ स्मर्ण	स्मरण
१५३	२१ लोकपरोपकार	लोकोपकार
१५४	६ कर्म	कर्म
१५५	१८, २०, २१, २३ स्वभाविक	स्वाभाविक
१५६	७, २० तामसी	तामस
१५६	८, १८ राजसी	राजस

१५७	६ यज्ञयागादिक	यागादिक
१६४	७ स्मरण	स्मरण
१६४	१० पातञ्जली	पातञ्जल
१६५	१६ आपात्ति	आपत्ति
१७१	१४ अधिम	अधम
१७१	१८ शिष्य	भीष्य
१७२	१३ प्रतज्ञा	प्रतिज्ञा
१७४	१४ मौनी	मौन
१७५	१२ कछ	यह
१७६	२१ का	कीं
१८७	१२ निवारण	निर्वाण
१८७	२१ मुक्क	मुक्के
१८८	२१ छिन्दो	छिन्दो
१८६	२१ काम	कर्म
१९०	१७ धृतराष्ट्र	धृतराष्ट्र
१९०	१६ परमेश्वर्य	परमेश्वर्य
१९२	२२ दाढों	ढाढों
१९४	५१८ प्रसन्न	प्रसन्न
१९५	१३ विप्रतियते	विप्रतियते
१९५	१३ उपलब्ध्युपलब्धि	उपलब्ध्युपलब्ध्य

जहाँ कहीं यह अशुद्ध शब्द छपा है वहाँ यह शुद्ध
शब्द पढ़ो !

सत्त्व
तत्त्व
महत्त्व
सात्त्विक
पृथक्
दुःख
परिमाण

सत्त्व
तत्त्व
महत्त्व
सात्त्विक
पृथक्
दुःख
परमाण

LALA KANNOO MAL'S BOOKS.

(*Leader, October 22nd 1917.*)

Lala Kanno Mal, M. A., civil and sessions judge and education officer, Dholpur State, is a scholar of varied literary attainments, and a fine writer both in English and Hindi. He has written a number of books in both these languages, besides contributing frequently thoughtful and able articles on literary and philosophical subjects to a number of respectable English and Hindi magazines.

The following is a brief review of his books :—

BOOKS IN ENGLISH.

1. The 'Master poets of India.' Price 0-4 0.

This is a comprehensive survey of the lives and works of all important Sanskrit and Hindi poets of India. A mere reading of the book enables the reader to acquaint himself with the master-poets of this ancient land and to judge of their merits in comparison with the works of English poets. The book is the first of its kind and would repay perusal by all Indians—more especially the Hindus who ought to know the literary and poetical achievements of their forefathers.

2. The 'Secrets of Upanishads.' Price 0 2-6.

This book contains most elevating and sublime passages from the principal twelve Upanishads bearing on the Supreme Spirit and the Atma. It is in brief, the quintessence of the wisdom of the Upanishads on this subject. In the book, the Sanskrit text is first given and then its Hindi and English renderings. The book

deserves not only to be read but studied and inwardly digested by every lover of Vedānta Philosophy. It may form the basis of daily recitations by pious Hindus in their morning worship. No such epitome of the Upanishads has yet been published.

3. Lord Krishna's Message.' Price 0-4-0.

This book is a gist of the teachings of Lord Krishna as set forth in the Bhagvat Gita. The novel feature of the book lies in that it classifies, arranges and epitomizes the teaching of Lord Krishna under separate heads so that one may know at a glance what the great teacher had to say on each subject. The book deserves to be widely read.

4. The Study of Jainism. Price 0-12-0.

This book gives the sum total of the religious philosophy and ethics of the Jains under four divisions, viz. Jain Philosophy, Arhats or Tirthankars, the ideal of Jain Sadhu and the ideal of Jain Householder. It is a work involving research and scholarship, and is very useful to all lovers of ancient philosophy and religion of this country. The book should find its way in the homes of all educated Indians, more especially the Jains.

5. The 'Saptbhangi Nyaya' or the pluralistic argument of the Jain dialectics. Price 0-6-0.

This is a most illuminating exposition of the well known Saptbhangi argument of Jain Philosophers. This peculiar logic of the Jains is replete with new views.

points of ascertaining the truth of things. The subject is very abstruse but the writer has spared no pains in explaining it in a very easy and intelligible way. The book contains an introduction by a well-known Jain Sadhu, Muni Jinvijayji, who is a living authority on Jain religion, philosophy and literature. All scholars should read the book. They would appreciate the subtleness and ingenuity of the ancient Indian mind in dealing with logical questions.

BOOKS IN HINDI.

6. 'Sahitya Sangit Nirupan' (साहित्य संगीत निरूपण) or the study of Hindu music in the light of poetics and erotics. Price 0-10-0.

This book treats of the fundamental laws governing the Hindu music and describes all the principal Rags and Ragnis with choice examples of songs from the standard poets. Its novel and significant feature is the reconciliation of the Hindu music with the science of poetics and erotics - a thing never before attempted, and the important reform in music necessitated by this reconciliation. The book is unique of its kind and affords a new standpoint of dealing with Hindu music. It should be read by every Indian proud of the musical achievements of this country.

7. हर्बर्ट स्पेन्सर की अज्ञेय मीमांसा or Herbert Spencer's philosophy of the unknowable. Price as. 4.

For the first time, Herbert Spencer's philosophy of the unknowable has been placed within the reach of the Hindi knowing public in a most illuminating and

intelligible way. The book amply repays perusal and familiarises the reader with the main arguments of Herbert Spencer. The book is written in an 'up-to-date Hindi style. It is published by the Indian Press, Allahabad.

8. हर्बर्ट स्पेन्सर की ज्ञेय मीमांसा—or Herbert Spencer's philosophy of the knowable; price as. 4.

This is a companion volume to the above book. It treats of Herbert Spencer's philosophy of the knowable in an up-to-date Hindi style. It should invariably be read by all who read the first volume.

9. जैनतत्त्व मीमांसा or the principles of Jainism.

It is a small pamphlet dealing with the fundamental principles of Jainism in a very lucid style.

10. भारतवर्ष के धुरन्धर कवि' or 'Bharat varash ke Dhurandher Kavi'; price 4 as.

This is a Hindi version of the master poets of India noticed in the beginning of this review. No Hindi knowing Indian ought to be without a copy of this book. It is published by the Indian Press, Allahabad.

11. सामाजिकसुधार or Social Reform ; price 3 as.

The book treats in a small compass, of all the leading questions of social reform and suggests practical remedies for the evils from which the Hindu society is suffering. It is a very useful brochure for all taking interest in social reform, and there are few who are not so interested. The views of the writer are moderate and the suggestions made are very practicable.

12. अंगरेजी राज्य के सुख or the blessings of British Rule; price 8 as.

The book deals elaborately with the blessings which the British Raj has conferred upon this country and aims at engendering and promoting the feelings of loyalty towards the British Government. It has been approved by the Text Book committee U. P. for distribution in prizes and to be kept in Libraries.

13. व्याकरणबोध or Hindi Grammar; price 2-6 as.

14. व्याकरणसार or Advanced Hindi Grammar ; price 4 as.

Both these books on Hindi Grammar intended for the Upper primary and Middle sections of the vernacular schools are written on new lines and in an up-to-date style. They contain many new features not yet found in books on Hindi grammar. The Director of Public Instruction, U. P. has been pleased to give a reward of Rs. 100 to the writer on the latter of these books, *i. e.*, the व्याकरणसार (Vyakaransar) which is an ample testimony of the book being 'most useful for boys for whom it is written. Inspectors and headmasters of schools would do well in introducing these books on Grammar in the schools under them. The books may with advantage be introduced into the Anglo-Vernacular schools upto the Matric standard.

All the above books can be had from the Atmanand Jain Pustak Pracharak Mandal, Roshan Mohalla, Agra, who are the publishers of several of these books.

THE STUDY OF JAINISM:

Another well-known writer in English on Jainism is Mr. Kanno Mal, M. A., who is a valued contributor to the *Hindustan Review*. His several works especially his study of Jainism are excellent contributions to the growing expository literature of Jainism.

—*Hindustan Review*.

Lord Krishna's Message.

By Lala Kanno Mal, M. A. published by Atmanand Jain Pustak Pracharak Mandal, Roshan Mohalla, Agra. Price—4 as.

This little book contains a brief summary of the teachings of the Bhagvat-Gita. The author promises to write a larger and comprehensive treatise on the subject. In it he has tried to lay before the readers the main teachings of that illustrious Lord, which relate to the questions of the creation of the world, Soul and the Supreme Soul [आत्मा और परमात्मा], their relations to each others, final goal and the ways how it can be best attained. We can safely recommend this book to all thoughtful readers.

—*Dharmabhudya*.

The Master Poets of India.

By the same author and to be had of the same publishers. Price—4 as.

The very title of the book speaks for the subject dealt with therein. The book is divided into two parts: the first contains a short description of the lives and

works of 26 Sanskrit poets from Valmiki down to Madhava, who flourished in the end of the seventeenth century. In the appendix there is a long list of other notable Sanskrit poets who have been left unnoticed in this book. The second part of the book deals with the lives and works of Hindi poets from Chand Bardai (1092 A. D.) down to Babu Hari-chandra and Raja Lachman Sinha of living memory. In the end there is a list of 60 other Hindi poets, who have not been noticed in the text. The book, although incomprehensive is worth reading by all lovers of Sanskrit and Hindi literatures.

— *Dharmabhudya.*

उपनिषद् रहस्य—*or the Secrets of the Upanishads.*
 Compiled and translated by Lala Kannoo Mal M. A.,
 Price 2½ annas. To be had of the Manager, Damodar
 Printing Works, Agra Cantt. This small book, in the
 words of Mrs. Annie Besant, who has written a fore-
 word offers to all lovers of sacred literature an exquisite
nosegay of blossoms, culled in the garden of the twelve
major Upanishads. Very fragrant are they, and soul-
entrancing the essence of the Royal Secret—the oneness
of man with God.’ The compiler has really been very
 happy in his selections. This booklet will be useful
 both to the English and the Hindi reading public as
 the slokas given have been translated both in English
 and Hindi.

—*Leader.*

३, ४, ५—श्रीयुत लाला कन्नोमल एम० ए० धौलपुर-के तीन ग्रंथ (१) उपनिषद् रहस्य, (२) साहित्य संगीत निरूपण और (३) लार्ड कृष्णाज मेसेज अर्थात् भगवान् कृष्ण का सन्देश-हमारे सामने हैं। उपनिषद् रहस्य में १२ मुख्य उपनिषदों में से आत्मा और परमात्मा संबन्धी जो वाक्य हैं उनका इस छोटे ग्रन्थ में संग्रह किया गया है। इस पुस्तक में अग्रवचन श्रीमती माता एनीबेसगट ने लिखा है वह १५ पंक्ति का अत्यन्त ललित भाषा में अंगरेज़ी में लिखा है जिसने इस छोटे से ग्रन्थ में मानो जान डाल दी है। उपनिषद् पुष्प गुच्छ का जिन्हें पुनीत परिमल प्राप्त कर आनन्द उठाना हो वे श्री आत्मानन्द जैन, पुस्तक प्रचारक मंडल रोशन मुहल्ला, आगरा को लिखें। मिलने के लिये मूल्य ढाई आना।

—धर्म सेवक

भगवान् कृष्ण का संदेश-यह पुस्तक अंगरेज़ी भाषा में है। अंगरेज़ी में भगवतीता के विषय-यथा, जगदुत्पत्ति, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, परम पदार्थ, और उसकी प्राप्ति के व्यवहारिक मार्ग-इत्यादि का थोड़े में परन्तु बड़ी रोचक रीति से किया है। मूल्य ॥ आने। प्रकाशक वही आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा।

—धर्म सेवक

साहित्य संगीत निरूपण—इसमें मूल संस्कृत संगीत माला नामक ग्रंथ को प्रस्तावना और मानचित्र माला जोड़ कर तीन प्रकरणों में संकलित किया है। प्रस्तावना बड़ी रोचक और उपयोगी है। इसमें संगीत और साहित्य के अंगों की रूप रेखा थोड़े में बहुत संक्षेप से और सरलता पूर्वक दी गई है। दूसरे प्रकरण में मूल ग्रंथ उसका हिन्दी अनुवाद देकर राग रागिनियों के नायक नायिका तथा रस इनका परिचय दिया गया है। रस परिचय के साथ यह भी बतलाया गया है कि कौनसा विषय कौनसी रागिनी में गाना चाहिये। कुछ उदाहरण के लिये हर एक रागिनी के लक्षण के साथ गाने की चीज़ें भी दी हैं, जो साहित्य के अंग के उत्तम उदाहरण हैं। यह १३५ वर्ष की पुरानी हस्त लिखित प्रति पर से छापी गई है और संगीत शास्त्र की अच्छी पुस्तक है। ग्रंथ कर्ता का प्रस्तावना के पहिले अग्रकथन भी है, जो अंगरेज़ी में होकर भारतीय हिन्दू संगीत शास्त्र की महतीयता का परिचय कराता है। उसका परिचय हिन्दी पाठकों को अन्त में दिये हुए परिशिष्ट से होगा। पुस्तक के ३ रे प्रकरण में कोष्टक और नकशे दिये हैं, जो संगीत शास्त्र के गान के ऋतु, काल, राग, रागिणी, स्वरूप देवताओं का परिचय कराते हैं। आता कन्नोमल जी ने राजधानियों में अवशिष्ट संगीत विद्या का इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अच्छा उद्धार किया है। इस लिये हम उनका साहित्य और संगीत दोनों की तरफ से अत्यन्त धन्यवाद मनाते हैं। इस पुस्तक का मूल्य ॥=) आना है, और आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, रोशन मोहल्ला, आगरा से प्राप्य है।

—धर्म सेवक

